मालिक और मजदूर

[ग़रीब व अमीरों की समस्याओं के निबन्धों का संग्रह]

लेखक

लिओ टालस्टाय

अनुवादक

श्री शोभालाल गुप्त

नवयुग साहित्य सदन, इन्दौर

सर्वोदय साहित्य मन्दिर

हुसेनीअलम रोड, हैदराबाद (दक्षिण).

प्रकाशक
गोकुलदास धूत
नवयुग साहित्य सदन, इन्दौर

द्वितीय संस्करण : १९४८
मूल्य
डेढ़ रुपया

मुद्रक
कुँवर शिवराजसिंह
सुभाष प्रिंटिंग प्रेस, गोराकुंड,

विषय-सूची

दो शब्द

यह पुस्तिका रूसी महापुरुष टालस्टाय के कुछ निबन्धों का संग्रह है। महर्षि टालस्टाय ने इन निबन्धों में हमारे वर्तमान समाज की अवस्था पर गहराई के साथ विचार किया है। 'मालिक और मजदूर' नाम से पाठक इस भ्रम में न पड़ें कि इन निबन्धों में कारखानों में काम करनेवाले श्रमजीवियों और पूंजीपतियों की समस्या पर ही विचार किया गया है। संसार इस समय दो प्रधान श्रेणियों में विभाजित हो रहा है। एक ओर धनवान हैं तो दूसरी ओर गरीब। इन्हीं को पर्याय से आप मालिक और मजदूर, शासक और शासित, अधिकार-सम्पन्न और अधिकार-शून्य, जमींदार और किसान आदि अनेक नामों से पुकार सकते हैं। कल-कारखानों में काम करनेवाले श्रमजीवियों की संख्या तो बहुत थोड़ी है। आधुनिक युग के विविध आविष्कारों के बावजूद भी आज अधिकांश मानव समाज कृषि पर जीवन निर्वाह करता है, और वह शहरों में नहीं, छोटे-छोटे देहातों में बसा हुआ है। इसलिए जब हम मानव समाज की समस्या पर विचार करते हैं तो हम इन देहातों में बसने वाले असंख्य श्रमजीवियों को दृष्टि से ओझल नहीं कर सकते। अतः पाठक इन निबन्धों को पढ़ते समय इस बात को ध्यान में रखें कि 'मालिक और मजदूर' शब्दों का उनके बहुत व्यापक अर्थ में प्रयोग किया गया है।

यह निर्विवाद है कि आज का मानव समाज वह नहीं जो कि उसे होना चाहिए। उसमें उत्पीड़न है, शोषण है, कलह है, संघर्ष है, अशांति है, मार-काट है। संक्षेप में कहें तो उसकी अवस्था पशु-समाज से कुछ अच्छी नहीं, बदतर भले ही हो। यह क्यों? इसका उत्तर भी सभी ओर से एक ही मिलता है, कि कुछ व्यक्तियों ने स्वार्थ से प्रेरित होकर संसार के सुख-साधनों को हथिया लिया है और मानव समाज में ऐसी प्रणालिका जारी कर दी है कि हरेक को अपने जीवन के लिए कठोर

संघर्ष करना पड़ता है और मनुष्य अपने फलने-फूलने के लिए अपने भाई का, अपने पड़ौसी का गला काटने मे भी सकोच नही करता। ऊपर मे लगा कर नीचे तक यही क्रम चल रहा है। किन्तु इस क्रम मे निर्बलों की मौत और बलवानों की चाँदी है। इसका परिणाम यह हुआ है कि नगों भूखों की संख्या करोड़ों पर जा पहुची है और जिन्हे भौतिक और अन्य प्रकार के समस्त साधन उपलब्ध हैं, उनकी गिनती अगुलियों पर की जा सकती है। इन चन्द मुट्ठी भर लोगों के प्रति बहुजन समाज के हृदयों मे भयंकर असन्तोष की ज्वाला धाय-धाय कर रही है।

स्थिति दिन-प्रति-दिन भयावह होती जा रही है। यह अस्वाभाविक स्थिति कितने दिन कायम रह सकती है? उसको बदलना होगा। किंतु प्रश्न यह है कि उसको किस प्रकार बदला जाय। पाठकों को इस प्रश्न का उत्तर इन निबन्धो मे मिलेगा। आज तक मानव समाज को आदर्श मानव समाज बनाने के लिए अनेक वाद प्रचलित हो चुके हैं। समाज-वाद, पूजीवाद, अराजकतावाद, धर्मवाद आदि अनेक वादो का नाम लिया जा सकता है। महर्षि टालस्टाय ने हरेक वाद को, हरेक विचार को अपनी कसौटी पर कसा है और अपनी विवेक बुद्धि के अनुसार निर्भय हो कर उनकी खामियो को हमारे सामने प्रस्तुत किया है। वे किसी वाद के, अन्ध समर्थक नही। वे मूलतः धार्मिक अन्तःकरणवाले व्यक्ति थे। इस-लिए धर्म-भावना पर ही उन्होंने अधिक जोर दिया है। भौतिक साधन नही, आध्यात्मिक कल्याण ही उनका लक्ष्य रहा है।

महर्षि टालस्टाय ने सीधे-सादे शब्दों मे मनुष्य के आचरण के लिए कुछ सूत्र उपस्थित कर दिये हैं। वे यह मानते हैं कि सारी खराबी की जड़ यह है कि मनुष्य इस स्वर्गीय नियम को भूल गया कि हमको दूसरों के साथ ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिए जो हम नही चाहते कि दूसरे हमारे साथ करें। जहां तक किसानों की तात्कालिक समस्या का ताल्लुक है, टालस्टाय ने यह प्रतिपादित किया है कि जमीन पर व्यक्ति का

अधिकार होना एक भीषण अन्याय है। जमीन मनुष्य की आजीविका का मुख्य साधन है और उसको कुछ लोग हड़प करले तो यह स्वाभाविक ही है कि आम लोग भूखों मरेंगे और गुलाम बन जाने के लिए विवश होंगे इसलिये टालस्टाय ने यह सुझाया है कि जमीन का इस प्रकार विभाजन किया जाना चाहिए कि हर वह व्यक्ति जो उसके द्वारा आजीविका प्राप्त करना चाहे, जमीन का आवश्यक भाग प्राप्त कर सके। यदि जमीन का यह प्रश्न हल हो जाय तो हमारे युग का एक बड़ा प्रश्न हल हो जांय, इसमें कोई शक नही। भारत जैसे कृषिजीवी देश के लिए उसका महत्व और भी अधिक है।

पाठक इन निबन्धो मे यह भी देखे कि महर्षि टालस्टाय की विचार-धारा महात्मा गाधी की विचारधारा से कितनी मिलती-जुलती है? टालस्टाय वर्तमान अवस्था को बदलने के लिए हिंसात्मक उपायों का अवलम्बन करने की सलाह नही देते। वे राज्य सत्ता को भी हिंसा का ही प्रतीक मानते है; अत वे ऐसे समाज की कल्पना करते हैं जिसमें सत्ता जैसी कोई वस्तु न होगी और मनुष्य अपने लिए नही बल्कि सबकी कल्याण भावना से प्रेरित होकर काम करेंगे। दूसरे शब्दों में टालस्टाय को हम अराजकतावादी कह सकते हैं, इस अन्तर के साथ कि वे अराजकतावादियो की भांति हिंसात्मक उपायों के उपासक नही। अन्याय और उत्पीड़न को रोकने का टालस्टाय ने एक ही मार्ग बताया है और वह यह कि अन्याय और अत्याचार का शिकार, उत्पीड़ित जन समाज अन्याय-अत्याचार का साझीदार न बने। बहुधा मनुष्य अपनी आपत्तियों का स्वयं ही कारण हुआ करता है। अतः टालस्टाय कहते है कि मनुष्य को अपने पाँवों पर खुद ही कुल्हाड़ी मारने का यह कार्य बन्द करना चाहिए।

जो लोग मानव समाज के लिए नवीन संगठन कायम करना चाहते हैं, उनकी बात टालस्टाय को ज्यादा अपील नहीं करती। उनकी यह मान्यता अवश्य सही प्रतीत होती है कि जब तक व्यक्ति अथवा व्यक्तियों

का हृदय परिवर्तन नहीं होता, कितना भी आदर्श समाज-संगठन क्यों न कायम किया जाय, अन्ततोगत्वा गलत हाथों में पड़ कर वह पुनः भ्रष्ट हो जायगा। इसलिये टालस्टाय कहते हैं कि मनुष्य दूसरों को सुधारने की चिन्ता छोड़ कर पहले खुद को सुधारने की चिन्ता करे। इसमें कोई शक नहीं कि किसी रोग के लिए बाह्य उपचारों की अपेक्षा भीतरी उपचार अधिक कारगर होता है। किन्तु साथ ही हम बाह्य उपचारों की भी उपेक्षा तो नहीं कर सकते। मनुष्य को भीतर से अच्छा बनने की प्रेरणा मिले, इसके लिए हमको अनुकूल वातावरण सुलभ करना होगा, उसके मार्ग की उन बाधाओं को हटाना पड़ेगा, जो आज के इस विषम संसार में पग-पग पर उसका सामना करती हैं।

आशा है महर्षि टालस्टाय के इन निबन्धों में पाठकों को विचार और चिन्तन की प्रचुर सामग्री मिलेगी और यदि उन्होंने अपने जीवन को स्वार्थ की ओर से मोड़ कर सर्व-हित में लगा दिया तो वे भावी आदर्श समाज की नींव डालेंगे और अपना तथा जगत दोनों का साथ-साथ कल्याण कर सकेंगे।

नई दिल्ली
गाँधी जयन्ती, १९४५

शोभालाल गुप्त

मालिक और मजदूर

: १ :

मानव समाज में शोषण

सारा मानव समाज पशुओं के उस झुण्ड के समान है, जिसमें बैल, गाय और बछड़े सभी हैं, और जो तारों से घिरे बाड़े में बन्द है। बाड़े के बाहर सुन्दर हरी-भरी चरागाह है और खाद्य-सामग्री की बहुतायत है। बाड़े के भीतर पशुओं के लिए खाने को काफी घास नहीं है। फलस्वरूप बाड़े मे जो भी घास है उसको पाने के लिए वे पशु एक दूसरे पर हमला कर रहे हैं और एक दूसरे को पैरों तले कुचल रहे हैं। पशुओं का मालिक भला और सदाशयी व्यक्ति है। उसे पशुओं की हालत देखकर बड़ा रंज होता है। वह सोचने लगता है कि पशुओं की हालत किस प्रकार सुधारी जाय। सोचते-सोचते उसने गायों के रात के विश्राम के लिए हवा और नालीदार सुन्दर छप्पर बंधवा दिये। उसने उनके सींगो के सिरे मंढवा दिये ताकि वे जिन्दगी की लड़ाई में अपने सींगों का उतनी भयंकरता से प्रयोग न करें। उसने बूढ़े बैलों और गायों के लिए उस बाड़े के भीतर एक और हद-बन्दी बनादी, ताकि वे अपने बुढ़ापे में जिन्दगी की लड़ाई से बच जायं और घास के लिए निश्चिन्त हो जायं। चूंकि बछड़ों को मारा जा रहा था; वे भूख से भी मर रहे थे और उपयोगी पशु न बन पाते थे, इसलिए उसने ऐसी व्यवस्था कर दी कि उन्हें रोज सबेरे थोड़ा दूध पीने के लिए मिल जाया करे। इस प्रकार यद्यपि सब बछड़ों को काफी पोषण न भी मिलता था तो भी उन्हें इतना जरूर मिल जाता था कि वे जीवित रह सकते थे। मतलब यह कि पशुओं के स्वामी ने उनकी हालत सुधारने के लिए यथा-शक्ति प्रयत्न किया, किंतु

जब मैंने पशुओं के मालिक से पूछा कि आप यह सीधी-सी बात क्यों नहीं करते कि बाड़े की हद-बन्दी तोड़ कर पशुओं को बाहर निकाल दें; तो उसका उत्तर यह था कि यदि मैं ऐसा करूं तो फिर मुझे उनके दूध से जो हाथ धो लेना पड़ेगा।

: २ :

काम का बंटवारा

मनुष्य जिस मकान में रहता है, वह अपने आप नहीं बन जाता। उसके चूल्हे में जो ईंधन काम आता है वह भी वहां अपने आप नहीं पहुँचता, न पानी अपने आप आता है और न रोटी आकाश से टपक पड़ती है। उसका भोजन, उसके कपड़े, उसके जूते आदि तमाम चीजों को पुराने जमाने के लोगों ने ही तैयार नहीं किया। आज भी उनको ऐसे आदमी तैयार कर रहे हैं जो सैकड़ों और हजारों की तादाद में मर रहे हैं। वे रात-दिन परिश्रम करते हैं, किन्तु उन्हें अपने और अपने बच्चों के लिए काफी भोजन-वस्त्र और रहने को स्थान नसीब नहीं होता।

सभी मनुष्यों को दरिद्रता से लड़ना पड़ता है। वे जीवन संग्राम में इतने अधिक व्यस्त हैं, फिर भी उनके माता-पिता भाई-बहन और बाल-बच्चे मौत के घाट उतर रहे हैं। उनकी हालत उन आदमियों के समान है जो टूटे हुए अथवा अधडूबे जहाज में सवार हों और जिनके पास खाने-पीने का बहुत थोड़ा सामान बच रहा हो। उनको परमात्मा ने या प्रकृति ने ऐसी दशा में डाल दिया है कि अपनी जरूरतों के साथ बिना निरंतर संघर्ष किये उनका काम नहीं चल सकता। यदि हम उनके इस काम में बाधा डालें अथवा दूसरों के परिश्रम का इस तरह उपभोग करें कि जिससे सर्वसाधारण को कोई लाभ नहीं पहुँच सकता, तो यह हमारे और उनके दोनों के लिए घातक सिद्ध होगा। तो फिर अधिकांश पढ़े लिखे लोग क्यों खुद परिश्रम

नहीं करने और चुप-चाप दूसरों की मेहनत हड़प लेते हैं जो उनके खुद के जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक होती है ? क्या वे ऐसे जीवन को सात्विक और उचित समझते हैं ?

यदि कोई मोची ऐसे जूते बनावे जिनकी लोगों को जरूरत न हो और फिर यह कहे कि लोगों को उसको खाने को देना चाहिए तो यह एक अजीब बात मालूम होगी। किन्तु हम उन सरकारी कर्मचारियों, धर्माधिकारियों, कलाविदों, विज्ञान-वेत्ताओं आदि के लिए क्या कहेंगे जो सर्वसाधारण के लिए कोई उपयोगी चीज पैदा नहीं करते और न जिनके काम की किसी को जरूरत है, किन्तु जो फिर भी 'काम के बँटवारे' के सिद्धान्त के नाम पर अच्छा खाना-पहनना माँगते हैं।

अवश्य ही काम का बँटवारा हमेशा से चला आया है, किन्तु यह ठीक तभी हो सकता है, जब हम विवेक और अन्तःकरण पूर्वक उसे करने का निर्णय करें। जो बँटवारा सब लोगों की बुद्धि और हृदय को मंजूर हो, वह सबसे अच्छा बँटवारा होगा। आम लोग उसी बँटवारे को सही समझते हैं, जिसके अनुसार किसी मनुष्य के किसी खास काम को दूसरे इतना जरूरी समझें कि वे उसके बदले उस मनुष्य को राजी-खुशी से खाना और कपड़ा देने को तैयार हो जायँ। किन्तु जो मनुष्य बचपन से लगाकर तीस वर्ष की उम्र तक दूसरों की मेहनत पर जिन्दा रहता है और यह वादा करता है कि जब मैं अपनी पढ़ाई समाप्त कर लूँगा तो कोई बहुत उपयोगी काम करूँगा—हालाँकि किसीने उसको ऐसा करने को नहीं कहा होता—वह अपना शेष जीवन भी उसी प्रकार बिताता है और कहता रहता है कि मैं निकट भविष्य में कुछ-न-कुछ जरूर करूँगा, किन्तु यह सही बँटवारा नहीं हो सकता। यह तो बलवानों द्वारा दूसरों की मेहनत लेना हुआ। हड़प खाने की इस क्रिया को धर्मवादी "दैवी निर्णय" दार्शनिक "जीवन की अनिवार्य अवस्था" और आजकल का विज्ञान "काम का बँटवारा" कहता है।

काम का बँटवारा मानव समाज में हमेशा रहा है और आगे भी

रहेगा, किन्तु सवाल यह है कि हम कैसी व्यवस्था करें कि जिससे यह बँटवारा ठीक-ठीक हो जाय।

लोग कहते हैं—कुछ मानसिक और आध्यात्मिक श्रम करते हैं; क्या यह काम का बँटवारा नहीं है? उनको श्रम का यह बँटवारा बिल्कुल ठीक प्रतीत होता है, किन्तु है यह वास्तव में वही प्राचीन बलात्कार का नमूना!

"तुम मुझे भोजन दो, वस्त्र दो और मेरी सब तरह सेवा चाकरी करो, क्योंकि तुम बचपन मे ऐसा करने के अभ्यस्त हो और मैं तुम्हारे लिए वह मानसिक कार्य करूँगा जिसका मुझे अभ्यास है। तुम मुझे शारीरिक भोजन दो और मैं उसके बदले में तुम्हें आध्यात्मिक भोजन दूंगा।" यह कथन सही प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में वह सही तभी हो सकता है जब सेवाओ का यह आदान-प्रदान स्वेच्छापूर्वक हो; शरीर श्रम करने वालों को आध्यात्मिक भोजन पाने से पहले ही अपनी सेवाएँ देने के लिए मजबूर न होना पड़ता हो। आध्यात्मिक भोजन देने वाला व्यक्ति कहता है—"मैं यह भोजन तभी दे सकता हूँ जब तुम मुझको भोजन दो, वस्त्र दो, और मेरे घर का कूड़ा कर्कट हटा कर ले जाओ।"

किन्तु शारीरिक भोजन सुलभ करने वाले व्यक्ति को अपनी ओर से बिना किसी प्रकार की माँग किए उपरोक्त काम करना पड़ता है। उसे आध्यात्मिक भोजन मिले या न मिले, शारीरिक भोजन देना ही होता है। यदि यह आदान-प्रदान स्वेच्छापूर्वक हो तो दोनों पक्षों के लिए उसकी शर्तें भी समान ही हों। यह सच है कि मनुष्य के लिए शारीरिक भोजन की भाँति आध्यात्मिक भोजन भी आवश्यक होता है। विद्वान व्यक्ति अथवा कलाकार कहता है: "हम मनुष्यों की आध्यात्मिक भोजन द्वारा तभी सेवा कर सकते हैं, जब वे हमारे लिए शारीरिक भोजन सुलभ करें।" किन्तु शारीरिक भोजन देने वाला भी क्यों न कहे—"हम आपके लिए शारीरिक भोजन सुलभ करना शुरू कर,

उसके पहिले हमको आध्यात्मिक भोजन की जरूरत है; जब तक वह हमको न मिलेगा, हम शरीर श्रम नही कर सकते ।"

आप कहेंगे–"लोगों के लिए आध्यात्मिक भोजन तैयार करने के लिए हमको किसान, लुहार, मोची, बढ़ई, राज आदि के परिश्रम की जरूरत है ।"

इसके जबाब में मजदूर भी कह सकता है–"मैं आपके लिए शारीरिक भोजन तैयार करने के लिए श्रम करूँ, उसके पहले मुझे आध्यात्मिक भोजन चाहिए । मुझे श्रम करने की शक्ति प्राप्त हो, इसके लिए मुझे धार्मिक शिक्षा, समतावादी समाज व्यवस्था, श्रम के साथ बुद्धि का संयोग, कला के सुख और आनन्द की जरूरत है । मेरे पास समय नही है कि मै जीवन के अर्थ के सम्बन्ध में शिक्षा प्रणाली की खोज करूँ । आप मेरे लिए उसकी व्यवस्था कीजिए ।

"मेरे पास सामाजिक जीवन के विधि-विधान बनाने के लिए भी समय नही है, जिसमे कि न्याय की अवहेलना न हो । आपही मेरे लिए उनका निर्माण कीजिए, मेरे पास यन्त्र विद्या, रसायन विद्या आदि को अध्ययन करने का समय नही है, मुझे ऐसी पुस्तके दीजिए, जिनके सहारे मै अपने औजारों में, काम करने के तरीकों में, रहने के मकानों मे और उनमे रोशनी और गर्मी की व्यवस्था करने आदि कामो में सुधार कर सकूँ । मैं काव्य चित्रकला और सगीत में भी अपने आप को व्यस्त नही रख सकता । मुझे मनोरजन और सुख की वह सामग्री दीजिए, जो जीवन के लिए आवश्यक है ।"

आप कहेंगे कि यदि मजदूर-पेशा लोग आप के लिए जो श्रम करते है, वह न करे तो आप अपना महत्त्वपूर्ण और आवश्यक काम नही कर सकते । इस के जवाब मे मजदूर भी यह कह सकता है—"यदि मेरे विवेक और अन्तःकरण की जरूरतों के मुताबिक मुझे धार्मिक पथ-प्रदर्शन न मिले, सरकार मेरे लिए काम की गारन्टी न करे, मुझे अपने श्रम को हल्का करने का ज्ञान न मिले और मैं कला का आनन्द न लूट सकू तो

में हल जोतने, कूडा-कचरा ढोने और घरों की सफाई का अपना महत्व-पूर्ण काम, जो आपके काम जितना ही आवश्यक है, नहीं कर सकूंगा। अब तक तो आपने आध्यात्मिक भोजन के रूप मे जो कुछ उपस्थित किया है, वह न केवल मेरे लिए बिलकुल निरर्थक है, बल्कि मै नही समझ सकता कि वह और किसी के लिए भी कुछ उपयोगी हो सकता है। और जब तक मुझे वह पोषण नही मिलेगा जो दूसरों के समान मेरे लिए आवश्यक है, तब तक मै आपके लिए शारीरिक भोजन पैदा नही कर सकता।"

यदि मजदूर ऐसा कहे तो क्या हो ? और यदि वह ऐसा कहे तो यह हँसी की नही, बल्कि स्पष्ट न्याय की ही बात होगी। बौद्धिक परिश्रम करने वाले की अपेक्षा एक मजदूर का उक्त कथन कही ज्यादा ठीक होगा। कारण, बौद्धिक-श्रम करने वाले की अपेक्षा शरीर-श्रम करने वाले का काम ज्यादा जरूरी होता है। दूसरे बुद्धि के स्वामी को वादाशुदा आध्यात्मिक भोजन देने मे कोई रुकावट नही हो सकती, जबकि मजदूर भोजन के अभाव मे श्रम करने मे असमर्थ होता है।

ऐसी दशा मे यदि हमारे सामने उक्त प्रकार की सीधी-सादी और न्यायोचित माँग रखी जाय, तो हम बौद्धिक श्रम करने वाले व्यक्ति उसका क्या जवाब देंगे ? हम उस माँग की किस प्रकार पूर्ति करेंगे ? हम यह तक नही जानते कि मजदूरों की जरूरतें क्या हैं। हम तो उनके रहन-सहन के तरीकों, उनके विचारों और उनकी भाषा को भी भूल गए हैं। अज्ञान के वश होकर हमने अपना वह कर्त्तव्य भुला दिया है, जिसे हमने अपने सिर पर लिया था। हम यह भी भूल गये हैं कि हमारा श्रम किस लिए हो रहा है और जिन लोगों की सेवा करने का हमने निश्चय किया था, उन्हींको हमने अपने वैज्ञानिक और कला - सम्बन्धी कार्यों का लक्ष्य बना लिया है। हम अपनी ही प्रसन्नता और आनन्द के लिए उनका अध्ययन करते हैं। हम यह बिलकुल भूल गये हैं कि हमारा काम उनका अध्ययन और वर्णन करना नही, बल्कि उनकी सेवा करना है।

अब हमको सावधान हो जाना चाहिये और गहराई के साथ आत्म-निरीक्षण करना चाहिए। वस्तुत: हम उन पंडे-पुजारियों के समान हैं, जिनके हाथों में स्वर्ग की कुन्जी तो है, लेकिन जो न तो खुद स्वर्ग में जाते हैं और न दूसरो को जाने देते हैं। हम अपने ही भाइयों का जीवन बर्बाद कर रहे हैं और फिर भी अपने-आप को धर्मात्मा, दयालु, शिक्षित और पुण्यात्मा समझे हुए हैं।

: ३ :

एक भीषण अन्याय

जन साधारण जिस मुख्य अन्याय का शिकार है, वह राजनैतिक सुधारो द्वारा नही मिटाया जा सकता। वह अन्याय यह है कि जिस जमीन के टुकड़े पर मनुष्य पैदा होता है, उसका वह इस्तेमाल नही कर सकता, हालाँकि कुदरती तौर पर उसको यह हक हासिल होना चाहिये। इस अन्याय की जघन्यता और दुष्टता को समझने के लिये यह अनुभव करना जरूरी है कि भूस्वामियो की ओर से निरंतर होनेवाला यह अत्याचार जब तक बन्द न होगा, तब तक किसी भी राजनैनिक सुधार द्वारा जनता को आजादी नसीब नही हो सकती, उसका कल्याण नही हो सकता। जब जन-साधारण भूस्वामियों की गुलामी से मुक्त होगे, तभी राजनैतिक सुधार राजनीतिज्ञों के हाथो के खिलौने होने की बजाय लोगो की आकाक्षाओं के सच्चे द्योतक होगे। जो लोग अपने व्यक्तिगत उद्देश्यों की पूर्ति करना नही चाहते, बल्कि आम जनता की सच्ची सेवा करना चाहते हैं, उनके सामने मै इस निबन्ध में यही विचार पेश करना चाहता हूँ।

आप देहातों की ओर निकल आइये और चाहे किसी से बात करके देख लीजिये। हरेक आपके सामने अपनी निर्धनता का रोना रोयेगा। लोगों के पास पेट भरने के लिए अन्न का अभाव है और इसकी वजह यह है कि उनके पास काफी जमीन नही है। भूमि से वञ्चित कर दिए

जान के कारण देहातों में कितनी भयकर तबाही मची हुई है, यह वहाँ जाने पर खुब-ब-खुद नजर आ जाता है। सवाल यह है कि उनको और उनके परिवारों को जिन्दा कैसे रक्खा जाय। और इन सबकी वजह है जमीन की समस्या। आप लोगों से उनकी दुरावस्था का कारण पूछिये और यह भी पूछिये कि उन्हे क्या चाहिए; तो उनकी ओर से एक ही जबाब मिलेगा। वे ऐसा सोचने के लिए विवश हैं, क्योंकि निर्वाह योग्य भूमि की कमी की मुख्य शिकायत के अलावा उन्हे महसूस करना पड़ता है कि वे भूस्वामियों और सेठ-साहूकारों के गुलाम हैं। उन पर इसलिए आये दिन जुर्माने होते हैं, वे पिटते और अपमानित होते हैं कि कभी उनके मवेशी निकटवर्ती भूस्वामी के बाड़े में चले जाते हैं या वे वहाँ से घास का बोझा अथवा लकड़ी का गठ्ठर जिसके बिना वे जिन्दा नही रह सकते, उठा लाते है। अतः आम लोगों की दृष्टि से भूमि का सवाल सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। उनके आगे यह बिल्कुल स्पष्ट है कि कृषि पर निर्भर रहने वाली आबादी, जिसकी तादाद बढती रहती है, उस अवस्था में जिन्दा नही रह सकती जबकि उसके पास बहुत थोड़ी जमीन हो, और उसे अपने अलावा उन तमाम परोपजीवियों का भरण-पोषण करना पड़ता हो, जो उनके साथ नत्थी है और उसके चारों ओर रेगते रहते है।

हेनरी जार्ज ने अपने एक भाषण में कहा है—"मनुष्य क्या है ? सबसे पहिले वह एक जानवर है, ज़मीन का जानवर है जो ज़मीन के बिना जिन्दा नही रह सकता। मनुष्य जो कुछ पैदा करता है, वह ज़मीन से ही पैदा होता है। यदि हम गहराई से विचार करे तो हमको ज्ञात होगा कि तमाम उत्पादक श्रम तभी होता है जब जमीन को जोता बोया जाय, या जमीन से पैदा होने वाली सामग्री को ऐसे रूप में परिवर्तित किया जाय कि उससे मनुष्य की आवश्यकताएँ और इच्छाएँ पूरी हो सकें। यही क्यों, खुद मनुष्य का शरीर भी पृथ्वी से ही पैदा होता है। हम पृथ्वी के बेटे हैं—खाक में पैदा हुए, खाक में मिल जायँगे। मनुष्य से आप वें

सब चीजे ले लीजिये जो जमीन से निकली हों और फिर रह जायगा सिर्फ शरीर रहित आत्मा। इसलिए यदि आपका किसी ऐसी ज़मीन पर कब्जा हो, जिस पर दूसरे मनुष्य का जीवन निर्भर हो तो आप उस मनुष्य के मालिक बन जायँगे ओर वह आपका गुलाम। जिस ज़मीन पर मेरा जीवन निर्भर हो, उस जमीन का मालिक अपने पशुओं की भांति ही मुझको जीवन-दान दे सकता है या मार सकता है। हम गुलामी की प्रथा को खत्म करने की चर्चा करते हैं, पर हमने गुलामी को उठाया कहाँ है? हमने केवल गुलामी के एक विकृत रूप को, दास-प्रथा को नष्ट किया है। किन्तु हमको एक और गहरी और प्रच्छन्न गुलामी को, जो कहीं ज्यादा घातक है, खत्म करना है। वह है औद्योगिक गुलामी, जिसमें आजादी के नाम पर मनुष्य को प्रायः गुलाम बना लिया जाता है।"

अपने इसी भाषण के दूसरे हिस्से में हेनरी जार्ज ने कहा है—"क्या आपने कभी इस बात की विचित्रता और बेहूदगी पर विचार किया है कि सारी सभ्य दुनिया में श्रमजीवी वर्ग सबसे दरिद्र वर्ग है? ....एक क्षण के लिए सोचिये, यदि कोई समझदार आदमी पहले-पहल इस दुनियाँ में आवे और आप उसको यह बताएं कि हम इस दुनियाँ में किस तरह से रहते हैं, और मकान, भोजन, कपड़े और हमारी जरूरत की अन्य चीजे किस प्रकार श्रम द्वारा पैदा होती है तो क्या वह यह खयाल ब करेगा कि श्रमजीवी बढ़िया मकानों में रहते होंगे और श्रम के द्वारा जो भी उत्पादन होता है, उसका अधिकतर भाग उन्हें उपलब्ध होता होगा। किन्तु चाहे आप उस व्यक्ति को लन्दन ले जाइये, चाहे पेरिस या न्यूयार्क, वह यही देखेगा कि जिनको श्रमजीवी कहते हैं, वे सबसे खराब घरों में रहते हैं।"

सब देशों मे यही हाल है। आलसी लोग भव्य राजमहलों में रहते हैं और श्रमजीवी अँधेरे और गन्दे घरों में।

हेनरी जार्ज आगे कहते हैं—"यह सब कितना विचित्र मामला है, जरा सोचिये तो, हम सम्भवतः दरिद्रता को बुरा कहते हैं और यह उचित

ही है कि हम ऐसा कहें।.... ..प्रकृति श्रम को और सिर्फ श्रम को दान देती है; किसी भी चीज को पैदा करने के लिए मानव-श्रम की पहिले आवश्यकता होती है। जो मनुष्य ईमानदारी से और भली प्रकार मेहनत करता है वह धनवान होना चाहिए और जो ऐसा नही करता वह गरीब होना चाहिए। किन्तु हमने प्रकृति के क्रम को ऐसा बदल दिया है कि हम श्रम करने वालों को दरिद्र समझने लगे हैं।...इसका मुख्य कारण यह है कि हम श्रम करने वालो को मजबूर करते हैं कि वे उन लोगों को कुछ दे जो श्रम करने की इजाजत देते हैं। आप किसी से कोट, कुर्ता या मकान खरीदते हैं तो आप उन चीजो के विक्रेता को श्रम का उपहार देते हैं, ऐसी चीज का मूल्य देते हैं जो उसने पैदा की है या पैदा करने वाले से ली है। किन्तु जब आप किसी आदमी को जमीन के बदले कुछ देते हैं, तो आप उसको किस चीज का बदला देते हैं? आप उस को ऐसी चीज का बदला देते हैं जिसको किसी आदमी ने पैदा नहीं किया, जो मनुष्य के पैदा होने से पहले भी थी अथवा जिसका मूल्य उसने व्यक्तिगत रूप से स्थापित नही किया, बल्कि उस समाज ने किया जिसके आप भी अग है।

यही कारण है कि जिसने जमीन हस्तगत कर ली और उस पर कब्जा जमा लिया, वह धनवान है और जो जमीन को जोतता-बोता है या जमीन की पैदावार से चीजे बनाता है, गरीब है।

हम आवश्यकता से अधिक उत्पत्ति का रोना रोते हैं; किन्तु जब लोगों की जरूरतें ही पूरी नहीं होती, तब आवश्यकता से अधिक उत्पत्ति का सवाल ही कहां पैदा होता है? जिन चीजों के लिए यह कहा जाता है कि वे आवश्यकता से अधिक पैदा हुई हैं, उनकी बहुत लोगों को जरूरत रहती है। यह चीजे उनको क्यों नहीं मिलतीं? इसलिए कि उनको खरीदने के लिए उनके पास साधन नही हैं, यह बात नही है कि उनको उन चीजों की जरूरत ही न हों। और उनके पास उन चीजों को खरीदने के साधन क्यों नही है? वे बहुत थोड़ा कमाते हैं। जब लोगों की औसत

आमदनी एक या डेढ़ आना रोज हो, तो ज्यादा मात्रा में चीजे नही खरीदी जा सकती।

तो मनुष्य इतनी कम मजदूरी पर काम करने के लिए क्यों विवश होते हैं ? इसलिए कि यदि वे ज्यादा मजदूरी मागे तो ऐसे बेकार लोगों की बहुतायत है जो उनकी जगह काम करने को तैयार हो जायगे। बेकारो की इस भीड़ की वजह से ही ऐसी तीव्र प्रतिस्पर्द्धा होती है कि मजदूरी की दर घट कर अल्पतम रह गई है। क्या कारण है कि लोगों को काम नही मिलता ? क्या आपने विचार किया है कि लोगो का काम न पा सकना कितनी अजीब बात है ? आदमी को—प्रारम्भिक पुरुष को काम पाने में कोई मुश्किल न हुई और न राबिन्सन क्रूसो को हुई। काम तलाश करने का उनके सामने सवाल ही न था।

यदि मनुष्यों को काम देने वाला न मिले, तो वे अपने-आप काम पर क्यो नही लग जाते ? सिर्फ इसलिए कि उनको उस तत्व से वंचित कर दिया गया है, जिस पर कि मानव-श्रम किया जा सकता है। मनुष्यों को मजदूरी पाने के लिए एक दूसरे के साथ प्रतिस्पर्धा करनी पड़ती है, क्योंकि उनको अपने-आपको काम मे लगाने के प्राकृतिक साधनों से वंचित कर दिया गया है, उनको ईश्वर के राज्य मे कोई ऐसा जमीन का टुकड़ा नही मिल सकता कि जिसको वे उपयोग मे ला सके और उसके बदले उन्हे दूसरे आदमी को कुछ न देना पड़े।

'मनुष्य परमात्मा से प्रार्थना करते है कि उनकी गरीबी का अन्त हो किन्तु दरिद्रता ईश्वरी-नियमो की वजह से पैदा नहीं होती, ऐसा कहना घोर नास्तिकता है। उसका जन्म होता है उस अन्याय में से, जो एक मनुष्य दूसरे मनुष्यों के साथ करता है। कल्पना कीजिए, यदि परमात्मा आपकी प्रार्थना सुनले तो वह उसको पूरा किस प्रकार करेगा, जब तक कि वह अपने नियमों में परिवर्तन नही करता। सोचिए—परमात्मा हमको ऐसी कोई वस्तु नहीं देता जिसकी गणना हम दौलत में करते हैं। वह हमको केवल कच्चा माल देता है। दौलत पैदा करने के लिए मनुष्य को

उसका उपयोग करना पड़ता है। क्या वह हमको कच्चा माल काफी मात्रा में नही दे रहा। और वह हमको ज्यादा मात्रा में भी देने लगे तो वह दरिद्रता का अन्त कैसे करेगा? कल्पना कीजिए, हमारी प्रार्थनाओ के जवाब में वह सूर्य की शक्ति को या धरती के गुणो को बढा दे, वह पौधों में ज्यादा पैदावार की शक्ति भर दे या पशुओ को ज्यादा तादाद में अपनी सन्तान बढाने के लिए समर्थ बना दे, तो इसका लाभ किसको मिलेगा? ऐसे देश को सामने रखकर उत्तर दीजिए जहा जमीन पर चन्द व्यक्तियों का एकाधिकार हो–अधिकांश सभ्य देशो में यही अवस्था है। सिर्फ भू-स्वामियो को। और यदि खुद परमात्मा भी हमारी प्रार्थना को सुनकर स्वर्ग से वह सब चीजे भेज दे जिनकी मनुष्यो को जरूरत है, तो उनका लाभ कौन उठावेगा? भू स्वामी। वे उन सब चीजो पर अधिकार जमा लेगे और जिन लोगो के पास जमीन न होगी, उनको कार्य करने के लिए मजबूर करेंगे। वे उन चीजों को बेचना शुरू कर देंगे, यहां तक कि भूमि-रहित लोगो को उन चीजो को खरीदने के लिए अपने बदन के कपडे भी उतार देने पडेंगे। तब नतीजा यह होगा कि एक ओर वे भूखो मरने लगेंगे और दूसरी तरफ उन चीजो का ढेर लग जायगा और भूस्वामी शिकायत करने लगेंगे कि पैदावार आवश्यकता से बढ गई है।

मेरा कहने का यह आशय नही है कि इस मौलिक अन्याय को मिटा देने के बाद हमारे लिए कुछ करने धरने को शेष नही रह जायगा। मैं जो कहना चाहता हूँ वह तो यह है कि तमाम सामाजिक प्रश्नों के मूल में हमारी ज़मीन की व्यवस्था मुख्य है। मैं यह कहना चाहता हूँ कि आप जो चाहे कीजिए, चाहे जैसा सुधार कीजिए, जो व्यापक-दरिद्रता फैली हुई है उसे आप तब तक नही मिटा सकते, जब तक कि आप उस तत्त्व को, जिस से मनुष्यों को जिन्दा रहना है, चन्द व्यक्तियो की निजी जायदाद बनी रहने देते हैं। सरकार का सुधार कीजिए, टैक्स घटा कर कम-से-कम कर दीजिए, रेल की सड़के बनाइये, सहयोग समितिया

खोलिए, मुनाफे को मालिकों और मज़दूरों में बांट दीजिए, पर इस सबका नतीजा क्या होगा ? यही कि जमीन की कीमत बढ़ जायगी। क्या तमाम सुधारों का यही नतीजा नही होता कि जमीन का मूल्य बढ़ जाता है—वह मूल्य, जो कुछ लोग जीने का अधिकार पाने के लिए दूसरों को देते हैं।

मनुष्य भक्षण, मानव बलिदान, धार्मिक व्यभिचार, कमजोर लड़के लड़कियों की हत्या, खूनी प्रतिशोध, सारी की सारी बस्तियों का संहार, न्यायालयों का उत्पीड़न, अग्निदाह, कोड़े बाजी और गुलामी यह सब प्रथायें पहले रह चुकी हैं। किन्तु यदि हम इन भयंकर प्रथाओं और रिवाजो को पार कर चुके हैं, तो इससे यह सिद्ध नही होता कि अब भी ऐसी प्रथायें और रिवाज जारी नही हैं जो जाग्रत विवेक और अन्तःकरण वालों के लिए उन पुरानी प्रथाओं के समान ही घृणास्पद हैं जिनकी कि दुःस्मृति-मात्र अब शेष रह गई है। मनुष्य की सफलता का मार्ग असीम है और हर ऐतिहासिक काल मे ऐसे अन्धविश्वास, भ्रम और हानिकर रिवाज रहे हैं, जिनको मानव पीछे छोड़ जाता है और जो भूतकाल की चीजे हो चुकती हैं। कुछ कुप्रथाओं का सुदूर भविष्य के कुहरे में हमें दर्शन होता है, और कुछ वर्तमान काल में मौजूद होती हैं, जिनको मिटाना हमारी जिन्दगी का सवाल बन जाता है। इस युग की जिन प्रथाओं को हमे मिटाना है, उनमें मृत्यु और अन्य दण्डों तथा व्यभिचार, मांसाहार और सैनिकवाद का समावेश किया जा सकता है। इसी प्रकार जमीन पर व्यक्तिगत अधिकार ऐसी कुप्रथा है, जिसे मिटाना भी उक्त बुराइयों की भांति ही ज़रूरी है। किन्तु लोग परम्परागत अन्यायों को एकदम या सहृदय लोगों द्वारा उनकी हानियां समझ लेने के बाद फौरन ही नहीं छोड़ देते। वे आगे बढ़ते हैं, पीछे हटते हैं और फिर आज़ादी की ओर लम्बी छलांग मारते हैं। हम इस क्रिया की प्रसववेदना से तुलना कर सकते हैं। भूमि पर से व्यक्तिगत अधिकार उठाने के संबंध में भी यही होगा।

भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार की बुराई और अन्याय की ओर हजारों वर्ष पहले अवतारी पुरुषों ने ध्यान दिलाया है और योरोप के प्रगतिशील विचारक अक्सर इसकी बुराई को बताते आये है। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति मे जिन्होंने प्रमुख भाग लिया था, उन्होने खास तौर पर इसका बयान किया है। उसके बाद जनसंख्या मे वृद्धि हो जाने और अधिकांश अबाधित भूमि पर धनिकों के कब्जा जमा लेने तथा शिक्षा के विस्तार के कारण यह अन्याय इतना स्पष्ट हो गया है कि प्रगतिशील लोग ही नही, बहुत साधारण लोग भी उसको देखने और महसूस करने लगे है। किन्तु जो लोग जमीनों की मिल्कियत मे लाभ उठाते है—खुद मालिक भी और वे भी जिनके स्वार्थ इस प्रथा के साथ बंध गये है—मौजूदा व्यवस्था के इतने आदी हो गये है और उससे इतने लम्बे अर्से तक लाभ उठा चुके है कि उन्हे इसका अन्याय मालूम ही नही होता और वे सत्य को अपने-आप से और दूसरो की नजरों से छिपाने की हर कोशिश करते हैं, दबाते है। सत्य अधिकाधिक स्पष्ट रूप मे प्रकट हो रहा है, किन्तु वे उसे विकृत करने की कोशिश करते है, दबाते हैं, और यदि इसमें उन्हें सफलता नही मिलती तो वे उसको चुप करने की कोशिश करते है।

गत शताब्दी के अन्त मे इंग्लैण्ड मे हेनरी जार्ज नाम के महापुरुष पैदा हुए थे। उन्होंने भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार की प्रथा के अन्याय और जुल्म को प्रकट करने और प्रचलित शासन प्रणालियों के अधीन उसको मिटाने के उपाय सुझाने के लिए भारी मानसिक श्रम किया। उन्होंने अपने मन्तव्य को इस जोर और स्पष्टता के साथ प्रकट किया है कि कोई भी निष्पक्ष व्यक्ति उससे सहमत हुए बिना न रहेगा। उसे स्वीकार करना पड़ेगा कि जब तक यह मौलिक अन्याय नहीं मिटाया जायगा, लोगों की अवस्था सन्तोषजनक न होगी और यह भी कि हेनरी जार्ज ने जो उपाय सुझाये हैं, वे युक्तिसंगत, न्यायपूर्ण और व्यावहारिक हैं। किन्तु हुआ क्या? खुद इंग्लैण्ड में और आयर्लैण्ड में भी, जहां कि

भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार की बुराई नग्न-रूप मे विद्यमान थी अधिकाश प्रभावशाली और पढे-लिखे लोग हेनरी जार्ज की शिक्षाओ के विरुद्ध हो गये। जिन लोगों ने पहले सहमति प्रकट की वे भी बाद में खिलाफ हो गये। इस प्रकार जमीन पर व्यक्तिगत अधिकार की प्रथा की रक्षा करने मे जिनका स्वार्थ था, उनके सामुहिक प्रयत्न से हेनरी जार्ज की शिक्षायें अज्ञात बनी हुई है और ज्यो-ज्यो समय बीतता जाता है, उनकी तरफ और भी कम से कम ध्यान दिया जाता है। अधिकाश शिक्षित कहलाने वाले लोग उनको सिर्फ नाम से ही जानते है।

. किन्तु जमीन निजी सम्पत्ति नही हो सकती, यह सत्य आधुनिक जीवन के वास्तविक अनुभवो मे इतना स्पष्ट हो चुका है कि उस व्यवस्था को, जिसमे जमीन पर व्यक्तिगत स्वामित्व स्वीकार किया जाता है, कायम रखने का एक ही मार्ग है और वह यह कि उसके बारे मे सोचा ही न जाय, सत्य की अवहेलना की जाय और अन्य ध्यान बटानेवाले मामलो मे अपने आप को व्यस्त रखा जाय। आज के सभ्य देशो मे यही किया जा रहा है।

योरोप और अमेरिका मे राजनैतिक कार्यकर्ता लोगो की भलाई के लिए हर किस्म के कामो की ओर ध्यान देते है। आयात-निर्यात कर, उपनिवेश, आय-कर, फौजी और समुद्री बजट, समाजवादी असेम्बलिया, सघ और महासघ, सभापतियो के निर्वाचन, कूटनीतिक सम्बन्ध आदि ऐसे विषय है, जिन पर उनका ध्यान लगा रहता है। सिर्फ एक ही विषय ऐसा है जिसको वे नही छूते और वह यह है कि तमाम मनुष्यो का जमीन का उपयोग करने का जो अधिकार छिन गया है, उसको पुन कायम किया जाय। बिना इसके लोगो की हालत नही सुधर सकती। यद्यपि राजनैतिक कार्यकर्ता यह महसूस किये बिना नही रह सकते कि औद्योगिक और सैनिक झगडो मे वे जो कुछ कर रहे है, उससे राष्ट्रो की शक्ति का ह्रास ही होने वाला है। फिर भी वे आगे की बात पर विचार नही करते और तात्कालिक जरूरतों के आगे सिर झुका देते है।

वे ऐसे चक्कर में फंसे हुए है कि जिससे बाहर निकलने का कोई रास्ता नहीं है और मानो वे अपने-आपको उस जादू भरे तिलस्म मे भुला बैठे है।

योरोप और अमेरिका के राजनैतिक कार्यकर्ताओं का यह क्षणिक अज्ञान दयाजनक है। किन्तु इसका कारण यह है कि इन महाद्वीपो के लोग ग़लत रास्ते पर इतनी दूर जा चुके है कि उनमे से अधिकांश जमीन से जुदा हो चुके है; वे अपनी आजीविका या तो कारखानों मे या खेतों पर मजदूरी करके कमाते है। इसलिए यह समझा जा सकता है कि योरोप और अमेरिका के राजनीतिज्ञों को लोगों की अवस्था सुधारने के लिए आयात-निर्यात कर, उपनिवेश और कम्पनियो का निर्माण आदि मुख्य जरिये प्रतीत होते है। किन्तु जिन देशो मे अस्सी-नब्बे प्रतिशत आबादी खेती पर निर्भर करती हो और जहां लोग एक ही बात की मांग करते हों, कि उन्हे खेती करने का मौका दिया जाय, वहा स्पष्टत: और ही किसी चीज़ की जरूरत है। योरोप और अमेरिका के लोगों की हालत उस मनुष्य जैसी है, जो एक रास्ते पर बहुत दूर निकल चुका है। शुरू में उसने उस रास्ते को सही समझा था। अब यद्यपि वह ज्यो-ज्यों, आगे बढ़ता है, अपने लक्ष्य से दूर हटता जाता है, फिर भी उसे अपनी भूल स्वीकार करने में भय मालूम होता है। किन्तु जो देश चौराहे पर खड़े है, उन्हें तो सीधा रास्ता पकड़ना चाहिए।

लोगों की भलाई का दम भरने वाले क्या कहते हैं? वे दावा करते है कि समाचार पत्रों को स्वाधीनता दी जाय, धार्मिक सहिष्णुता बरती जाय, श्रमजीवी संघों को आज़ादी दी जाय, आयात–निर्यात–कर लगाये जायं, सशर्त दण्ड दिये जायं, धर्म संस्थाओं को राज्य संस्था से जुदा किया जाय, श्रम के साधनों को भविष्य में राष्ट्र की सम्पत्ति बनाया जाय, सहयोगी संस्थायें खोली जायं, और सबसे पहले प्रतिनिधि शासन कायम किया जाय, जैसा कि योरोप और अमेरिका के देशों मे एक अर्से से कायम है। किन्तु यह प्रतिनिधि शासन आज तक न तो सब रोगों की रामबाण दवा भूमि-समस्या को हल कर सका है और न उसको ठीक रूप

मे सामने ही रख सका है।

लोगों ने गायों के एक झुंड को बाडे मे बन्द कर दिया है। उनके दूध पर वे जीवित रहते है। गायो ने बाड़े मे जो भी घास था, उसको खा डाला है या पैरों तले रौद डाला है। वे भूखों मरती है और उन्होने एक दूसरे की पूछों को भी चबा डाला है। वे बाड़े से बाहर निकल कर आगे चरागाह मे जाने की जी तोड कोशिश कर रही है। किन्तु जो लोग इन गायों के दूध पर जिन्दा रहते हैं, उन्होने बाड़े के चारों ओर खेतों मे रग और तमाखू के पौधे लगा दिये हैं। उन्होने फूलों की क्यारियाँ लगाई हैं, घुड़ दौड़ का मैदान बनाया है, बगीचा लगाया है और टेनिस खेलने की चौक बनाया है: कही गाएँ इन चीजों को खराब न करदे, इसलिए वे उन्हें बाड़े से बाहर नही निकलने देते, किन्तु गाएँ रांभती हैं और दुबली हो रही हैं। लोगों को डर पैदा हो गया है कि उन्हें दूध मिलना बन्द हो जायगा। इसलिए वे गायों की दशा सुधारने के लिए तरह-तरह के उपाय करते हैं। वे उनके लिए छप्पर डलवाते है, गीले ब्रुश से गायों के बदन को रगड़वाते है, सीगों को सोने से मड़वाते है और दूध निकालने के समय को बदलते है। वे बूढ़ी और बीमार गायों की देख रेख और चिकित्सा की चिन्ता करते हैं, वे दूध निकालने के नये और सुधरे हुए तरीकों का आविष्कार करते है और आशा करते है कि बाड़े में उन्होने एक खास किस्म का जो असाधारण पोषक घास लगाया है वह खूब उगेगा। वे इन और दूसरी अनेक बातों के बारे में चर्चा करते है, किन्तु वह बात नही करते जो खुद उनके और गायों के लिए हितावह है कि बाड़े की दीवारों को तोड़ डालें और गायों को आजाद करदे, ताकि वे अपने चारों ओर फैली हुई विस्तृत चरागाहों का आनन्द लूट सके।

लोगों का यह व्यवहार युक्ति-सगत नही है। किन्तु उसका एक कारण है। बाड़े के चारों ओर उन्होंने जो चीजे खड़ी की है, उनका मोह वे नहीं छोड़ सकते। किन्तु उन लोगों के लिए क्या कहा जाय, जिन्होंने अपने बाड़े के चारों ओर कुछ नहीं लगाया है, किन्तु फिर भी

प्रथम श्रेणी के लोगो की नकल करके अपनी गायो को बाडे में बन्द रखते है और दावा यह करते है कि वे ऐसा गायों के हित के लिए करते है। किन्तु हम यही कर रहे है। हम उन लोगो के लिए जो जमीन के अभाव से निरन्तर पीडित है, हर किस्म की पश्चिमी संस्थाओ की व्यवस्था करते है, पर मुख्य बात को भूल जाते है जिसकी लोगों को खास जरूरत है। वह यह कि जमीन पर से व्यक्तिगत स्वामित्व का खात्मा किया जाय और उस पर हरेक का समान अधिकार कायम किया जाय।

यह समझ में आने योग्य बात है कि योरोप के जो लोग प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अपने ही देशवासियो के श्रम पर जीवन-निर्वाह नहीं करते, किन्तु जिनकी रोटी कारखानो के माल के बदले में उपनिवेशो के मजदूर कमाते है और जो उन्हे खिलाने और पोषण करनेवाले मजदूरों की मेहनत और पीड़ाओ को नही देखते, वे भावी समाजवादी सगठन का ढाचा खड़ा कर सकते है और शान्त चित्त से चुनाव आदोलनो, दलगत सँघर्षों, धारा सभाओ के वाद-विवादो, मन्त्रिमण्डलो की स्थापना और उत्थापना और समय गुजारने के अन्य विविध कार्यों में, जिन्हे वे विज्ञान और कला का नाम देते है, व्यस्त रहते है।

योरोप के इन परोपजीवियो का पोषण करने वाले असली लोग हिन्दुस्तान, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया के वे मजदूर है जिन्हें वे नही देख पाते। किन्तु जिन देशो के पास कोई उपनिवेश नही है और जहाँ लोगों को अपनी रोटी कमाने के लिए घोर कष्ट सहना पडता है, वहाँ हम अपनी अन्यायपूर्ण अवस्था का बोझ दूरवर्ती उपनिवेशो पर नही डाल सकते। हमारा पाप सदा हमारी आँखो के सामने रहता है। जो लोग हमारा पोषण करते है, हम उनकी जरूरतो को नहीं समझते। हम न उनकी पुकार सुनते है और न उसका उत्तर ही देने का प्रयत्न करते है। इसके विपरीत हम उनकी सेवा करने के नाम पर योरोपीय ढग पर समाजवादी सगठन कायम करने की तैयारी करते है और इस बीच ऐसे कामों में समय गंवाते हैं कि जिनमे हमारा मनोरंजन हो और ध्यान बंटा

रहे। हम दावा तो यह करते हैं कि हमारा उद्देश्य लोगों की भलाई करना है, किन्तु हम कर यह रहे हैं कि लोगों के रक्त की अन्तिम बूंद भी चूस लेते हैं, ताकि वे हम परोपजीवियों का पोषण कर सकें।

लोगों की भलाई के लिए हम पुस्तकों पर से प्रतिबन्ध हटवाने, स्वेच्छाचारितापूर्ण निर्वासनों को रद्द करवाने, सब जगह प्राथमिक और कृषि स्कूल खुलवाने, अस्पतालों की संख्या बढवाने, टैक्सों की बकाया माफ करवाने, कारखानों की कड़ी देख-भाल करवाने और घायल मजदूरों को मुआवजा दिलवाने, जमीन की पैमायश करवाने, जमीन खरीदने के लिए कृषि-बैंकों से किसानों को सहायता दिलवाने आदि कामों की कोशिश करते हैं।

पर एक बार कल्पना कीजिए लाखों लोगों के सतत कष्टों की! वृद्ध स्त्री-पुरुष और बच्चे अभाव के मारे मर रहे हैं। शक्ति से अधिक काम करने और पर्याप्त भोजन न मिलने के कारण मरने वालों की संख्या कम नहीं है। कल्पना कीजिए कि जमीन के अभाव में देहात के लोगों को किस कदर गुलामी और अपमान का शिकार होना पड रहा है, उनकी शक्ति का दुरुपयोग हो रहा है और उन्हें अनावश्यक मुसीबतें झेलनी पड़ रही हैं। ऐसी दशा में यह स्पष्ट है कि यदि लोगों की सेवा का नाम लेनेवालों के सब उद्योग सफल हो जायें तो भी वह सागर में एक बिन्दु के बराबर ही होगा।

लोगों की भलाई का दम भरने वाले लोगों में कुछ ऐसे भी हैं, जो गुण और परिमाण दोनों की दृष्टि से महत्व-हीन परिवर्तनों की योजना करते हैं। और इस बात की तनिक भी परवाह नहीं करते कि लाखों मजदूर जमीन पर भूस्वामियों के कब्जा जमा लेने के कारण गुलामी में सड़ रहे हैं। इतना ही नहीं, उनमें से कुछ आगे बढ़े-चढ़े सुधारक यह पसंद करेंगे कि लोगों की मुसीबतें और बढ जायं ताकि अपने पुराने देहाती जीवन के बदले कारखानों का सुधरा हुआ जीवन ग्रहण करने के लिए विवश होना पड़े। ऐसे लोगों की विचार-हीनता आश्चर्य-जनक है।

वे अपने दिमाग से कुछ सोच नही सकते बल्कि पश्चिम का अन्धानुकरण करना चाहते हैं। उनके हृदय की कठोरता और निर्दयता और भी आश्चर्य-जनक है।

एक समय था जब परमात्मा के नाम पर मनुष्यों को लाखों की तादाद में मारा गया, सताया गया, फाँसी पर लटकाया गया, और कत्ल किया गया। अब हम अपने बड़प्पन के अभिमान में उन कामों को करने वालों को घृणा की नजर से देखते हैं। किन्तु हम गलती पर हैं। वैसे लोग आज भी हमारे बीच में मौजूद हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि पुराने जमाने के लोगों ने यह काम परमात्मा और उसकी सच्ची सेवा के नाम पर किए, और अब लोगो के नाम पर और उनकी सच्ची सेवा के लिए किए जाते हैं। पुराने लोगों मे कुछ ऐसे भी थे जो ख्वाहमख्वाह और दृढ़ता-पूर्वक विश्वास करते थे कि उन्हें सत्य का ज्ञान है। उनमे कुछ कुछ ऐसे भी थे जो दम्भी थे और परमात्मा की सेवा करने के बहाने अपना स्वार्थ सिद्ध कर रहे थे। जनता उन्ही का अनुसरण करती थी जो सबसे अधिक साहसी होते थे। अब जो लोग जनता की सेवा के नाम पर बुरा कर रहे है, उनमे भी ऐसे आदमी हैं जो कहते हैं कि सिर्फ उनको ही सत्य का पता है। उन्हें मालूम है कि कौन दम्भी है और जनता क्या चाहती है। परमात्मा की सेवा के ठेकेदारों ने धर्म के नाम पर अनर्थ किया, किन्तु जनता के सेवकों ने अपने वैज्ञानिक सिद्धान्त के नाम पर यदि कम हानि की है तो इसका कारण यह है कि उन्हें अभी काफी समय नहीं मिला। किन्तु उनके सिर पर लोगों में कटुता और फूट फैलाने का बोझ तो लद चुका है। दोनों प्रकार की हलचलों की विशेषताएँ एक सी हैं। पहले तो परमात्मा के और जनता के इन सेवकों में से अधिकांश का जीवन संयम हीन और खराब है। उन्हें अपने पद का इतना अभिमान है कि वे संयम की आवश्यकता ही नहीं समझते। दूसरी विशेषता यह है कि जिनकी वे सेवा करना चाहते हैं, उनके प्रति उनकी कोई दिलचस्पी, झुकाव या प्रेम नही है। दर असल पुराने धर्म-ध्वजियों को

न परमात्मा मे प्रेम था और न वे उसके साथ एकात्म्य स्थापित करना चाहते थे। वे न तो परमात्मा को जानते थे और न जानना चाहते थे। यही हाल बहुत से जन-सेवकों का है। उनके लिए जनता की हैसियत एक पताका से अधिक नही। जनता से प्रेम करना या मिलना-जुलना तो दूर रहा, वे उसे जानते ही नही। वे तो उसको घृणा, उपेक्षा और भय की दृष्टि से देखते हैं। उनकी तीसरी विशेषता यह है कि यद्यपि वे एक ही परमात्मा अथवा एक ही जनता की सेवा मे लगे हुए हैं, किन्तु उनमे न केवल सेवा के साधनो के सम्बन्ध मे ही मत भेद है, बल्कि जो लोग उनसे सहमत नही होते, उनके कामों को वे गलत और हानिकारक समझते हैं और उनको दबाने की पुकार मचाते हैं। फलस्वरूप पुराने जमाने में लोग जिन्दा जला दिये जाते थे और सैकड़ों की तादाद मे एक साथ मौत के घाट उतार दिये जाते थे और अब फांसी, कैद और हत्याओ का जोर है। और आखिरी, किन्तु मुख्य विशेषता दोनों की यह है कि वे यह बिल्कुल नही जानते कि जिनकी वे सेवा करना चाहते हैं, उनकी मंशा क्या है। परमात्मा ने प्रत्यक्ष और स्पष्टरूप मे बताया है कि मनुष्य अपने पड़ौसियों से प्रेम करके और दूसरों के प्रति वैसा व्यवहार करके जैसा कि वे दूसरों से अपने लिए अपेक्षा करते हैं, उसकी सेवा करे। किन्तु उन्होंने परमात्मा की सेवा का यह तरीका नहीं अपनाया। वे तो बिल्कुल दूसरी ही बात चाहते हैं जो उन्होंने अपने दिमाग मे पैदा की है और उसी को परमात्मा का आदेश बताते हैं। जनता के सेवक भी ऐसा ही करते हैं। लोग क्या करते और चाहते हैं इसका उन्हें कुछ पता ही नही। वे लोगो की सेवा के लिए ऐसा काम करते हैं, जिसकी लोगों को न तो इच्छा ही होती है और न कल्पना ही। वे अपने ही रास्ते से लोगों की सेवा करते है, किन्तु वह काम करने की कोशिश नही करते जिसको लोग बराबर चाहते रहते हैं

समाज-व्यवस्था में सभी जगह एक परिवर्तन निहायत ज़रूरी है। उसके बिना मनुष्य जीवन मे एक कदम आगे नही बढ़ सकता। इस

परिवर्तन की आवश्यकता हर वह आदमी समझता है जो पूर्वाग्रह का शिकार नही है। यह किसी एक देश का नही बल्कि सारी दुनिया का सवाल है। मनुष्य जाति के इस युग के तमाम कष्टो का उसके साथ सम्बन्ध है। जो लोग मजदूरी पर खेती का काम करते है, उनमे मे अधिकाश जमीन पर व्यक्तिगत मिल्कियत को स्वीकार नही करते। वे इस प्राचीन बुराई को मिटाने की माग करते रहते है।

किन्तु इस ओर किसी का ध्यान नही है। इस उल्टी गगा का कारण क्या है? जो लोग भले, दयालु और समझदार है—सरकारी और गैर-सरकारी सभी वर्गो मे ऐसे लोग होते है—और जो लोगो का हित चाहते है, वे लोगों की एकमात्र जरूरत को क्यो नही समझते, जिसके लिए कि वे निरन्तर कोशिश करते रहते है और जिसके अभाव मे वे बराबर कष्ट उठाते है। इसके बजाय वे बहुत-सी ऐसी बातो पर क्यो शक्ति खर्च करते है, जिनसे लोगो का तब तक कोई भला नही हो सकता, जब तक कि लोग जिस बात को चाहते है, वह पूरी नही हो जाती? सरकारी और गैर-सरकारी दोनों ही किस्म की जनता के इन सेवको का हाल उस व्यक्ति के समान है जो कीचड़ मे फसे हुए घोड़े की सहायता तो करना चाहता है, किन्तु गाड़ी मे बैठा रहता है और बोझ को एक जगह से उठाकर दूसरी जगह धरता है तथा समझता है कि मै घोड़े की हालत को सुधार रहा हूं। ऐसा क्यों? हमारे जमाने के लोग, जो अच्छी तरह और सुख-पूर्वक रह सकते है, बुरी तरह और कष्ट-पूर्वक क्यो जी रहे है?

इसका कारण यह है कि हम लोगो मे धार्मिक-भावना का अभाव है। धर्म के बिना मनुष्य न्यायोचित जीवन नही बिता सकता। और दूसरों के लिए क्या अच्छा और क्या बुरा है, क्या आवश्यक और क्या अनावश्यक है यह तो वह और भी कम जान सकता है। यही कारण है कि ज़माने के जन-सेवक लोगों के जीवन और जरूरतों को इतना ग़लत समझे हुए है। उनके लिए बहुत-सी बातें चाहते है किन्तु उस बात को भूले हुए है जिसकी कि उन्हें ज़रूरत है।

धर्म के बिना मनुष्यों को वस्तुत. प्रेम नही किया जा सकता । और बिना प्रेम के यह नही जाना जा सकता कि लोगो को क्या चाहिए, कम चाहिए या अधिक चाहिए । जो धार्मिक-वृत्ति के नही हैं और इसलिए वस्तुत. प्रेम नही करते, वही लोगों की पीड़ा के मुख्य कारण को भुलाकर नगण्य और महत्त्वहीन सुधारों की ओर ध्यान दे सकते है; जो लोगो की मदद करना चाहते हैं, वही खुद एक हद तक उनके कष्ट के कारण बन जाते है । ऐसे ही व्यक्ति लोगों के भावी सुख के सम्बन्ध में सूक्ष्म सिद्धान्तो का प्रतिपादन कर सकते है । वे लोगो के वर्तमान कष्टो की ओर ध्यान देंगे, जिनके तत्काल दूर होने की आवश्यकता है और जो दूर किए जा सकते है । यह तो वैसी ही बात हुई कि किसीने एक भूखे आदमी से उसका भोजन छीन लिया और बाद मे उसको उपदेश देने लगा कि भविष्य मे यह भोजन कैसे पा सकेगा । वह यह जरूरी नहीं समझता कि उसने जो भोजन छीन लिया है, उसमे से भूखे को कुछ हिस्सा दे दे ।

सौभाग्यवश महान लोक-कल्याणकारी आन्दोलन उन परोप-जीवियों के बल पर सफल नही हुआ करते, जो लोगों का रक्त चूस कर जिन्दा रहते है । ऐसे आन्दोलनों का श्रेय उन लगन वाले, सीधे और महान धार्मिक पुरुषों को होता है, जो अपने स्वार्थ, अहकार या महत्वाकाक्षा का ख्याल नही रखते और न बाहरी परिणामों की चिन्ता करते है । उन्हे तो परमात्मा के आगे अपने मानव-कर्त्तव्यों का हिसाब देना होता है ।

ऐसे ही व्यक्ति अपने मूक और दृढ कार्यो द्वारा मनुष्य जाति को आगे ले जाते है । वे लोगों की अवस्था सुधारने के लिए इधर-उधर के काम करके दूसरो की निगाह मे ऊँचा उठने की चेष्टा नही करते, बल्कि वे ईश्वरीय नियम और अपने अंतःकरण के अनुसार चलने की कोशिश करते है और इस प्रयास में स्वभावतः उनकी आँखों के सामने ईश्वरीय नियमकी सबसे बड़ी अवहेलना उपस्थित होती है और वे अपनी और

दूसरो की मुक्ति के उपाय करते है ।

इटली के महापुरुष मैज़िनी ने कहा है कि समाज-व्यवस्था में बड़े सुधार महान धार्मिक आन्दोलनो के द्वारा ही होते है। ज़मीन पर व्यक्तिगत मिल्कियत रूपी पाप का अन्त भी धर्म-भावना जागृत होने पर ही होगा। इसका अन्त राजनैतिक सुधारो, समाजवादी व्यवस्थाओ अथवा क्रान्ति द्वारा न होगा। दान की रकमो से अथवा सरकारी भोजनालयो मे भी यह नही होगा। इस प्रकार के ऊपरी उपायो से समस्या के मध्य-बिन्दु पर से ध्यान हट जाता है और उसके हल होने मे बाधा पैदा हो जाती है। न तो अस्वाभाविक बलिदानों की जरूरत है और न लोगो की चिन्ता करने की जरूरत। आवश्यकता सिर्फ यह है कि जो लोग यह पाप कर रहे हैं या उसमें हिस्सा ले रहे हैं, उन्हे उसका भान हो जाय और उससे छुटकारा पाने की इच्छा जागृत हो जाय। जिस प्रकार सत्य को भले आदमी हमेशा समझते आए हैं, उसको सब मनुष्य समझ ले कि जमीन किसीकी व्यक्तिगत मिल्कियत नहीं हो सकती, और जिनको उसकी जरूरत है, उनको उससे वंचित रखना पाप है। अपने-भरण पोषण के लिए जिन्हे जमीन की जरूरत है, उनको उससे वचित रखने मे लोगो को शर्म महसूस होनी चाहिए। जरूरत-मन्द लोगों को ज़मीन से वचित रखने के कार्य में सहयोग देने वालों को भी शर्म आनी चाहिए। जमीन का स्वामी होना और दूसरो के श्रम से लाभ उठाना शर्म की बात होनी चाहिए; क्योंकि दूसरे लोग तभी काम करने को विवश होते हैं, जब उनको जमीन पर उनके उचित अधिकार से वंचित कर दिया जाता है।

दास-प्रथा के सम्बन्ध मे क्या हुआ? भूस्वामियों को खुद लज्जा आने लगी, अन्याय-पूर्ण और निर्दयी कानूनों पर अमल करने मे सरकार को शर्म महसूस होने लगी और जो दास-प्रथा के शिकार थे, खुद उनको भी अनुभव होने लगा कि उनके साथ अन्याय हो रहा है। भूस्वामी-प्रथा के सम्बन्ध मे भी यही होने वाला है। और यह एक किसी वर्ग के लिए ही नही, बल्कि सब वर्गों के लिए और एक देश के सब वर्गो के लिए

ही नही, बल्कि सारी मानव-जाति के लिए आवश्यक है।

हेनरी जार्ज ने लिखा है—समाज व्यवस्था मे शोर मचाने और चिल्लाने, शिकायत करने और निन्दा करने, पार्टियाँ बनाने अथवा क्रांतियाँ करने से सुधार नही होता, वह होता है भावना की जागृति और विचारो की प्रगति से। जब तक बिचार ठीक न होगा, तबतक सही काम नही हो सकता और जब विचार ठीक होगा तो काम भी ठीक होगा।

'हरेक व्यक्ति और मानव सगठन जो समाज की हालत सुधारना चाहता है उसके लिए बड़ा काम है शिक्षा-प्रसार का, विचारो के प्रसार का। इस कार्य में हरेक बिचारशील आदमी मदद दे सकता है: वह पहले खुद अपने विचारो को शुद्ध बनावे और फिर अपने सम्पर्क में आने वालों के विचारों को शुद्ध करे।

यह बिल्कुल ठीक है, किन्तु उस महान उद्देश्य की पूर्ति के लिए विचार के अलावा धार्मिक भावना की भी जरूरत है—जिसके फल-स्वरूप गत शताब्दी मे गुलामो के मालिको ने यह महसूस किया कि वे गलती पर हैं और खुद व्यक्तिगत हानि और बर्बादी उठाकर भी उन्होने उस पाप से पीछा छुडाया जो उनको सता रहा था। यदि ज़मीन को मुक्त करने का बडा कार्य सिद्ध होता है तो भूस्वामियो मे वैसी ही भावना जागृत होनी चाहिये और इस हद तक जागृत होनी चाहिए कि लोग उस पाप से मुक्त होने के लिए, जिसके वे शिकार थे, और हैं, सब कुछ कुर्बान करने को तैयार हो जायँ।

एक ओर सैकडो, हजारों और लाखो एकड जमीन पर स्वामित्व भोगना, जमीन का व्यवसाय करना और जमीदारी से इस या उस तरीके से लाभ उठाना, लोगों को सता कर ऐश्वर्य का जीवन बिताना और अन्याय से प्राप्त असाधारण सुविधाओ को छोडने के लिए तैयार न होना और दूसरी ओर सभा समितियो मे लोगो की हालत सुधारने के बारे मे चर्चाएँ करना न केवल अच्छा नही है, बल्कि हानिकारक और भयकर है और सामान्य विवेक और ईमानदारी के प्रतिकूल है।

जो लोग भूमि मे वंचित है, उनकी हालत सुधारने के चतुराई पूर्ण उपाय खोजने की जरूरत नही, किन्तु वंचित करनेवालो को यह समझना चाहिए कि वे पाप कर रहे हैं। उन्हें हर जोखिम उठाकर उससे विरत होना चाहिए। हरेक व्यक्ति का ऐसा नैतिक काम मानव-समाज की इस समस्या को हल करेगा। रूस मे गुलामों का उद्धार ज़ार के द्वारा नहीं हुआ, बल्कि उन लोगों के द्वारा हुआ जिन्होने गुलाम-प्रथा के पाप को समझा और अपने व्यक्तिगत लाभ का खयाल न करके उससे मुक्त होने का प्रयत्न किया। इसका श्रेय उन लोगों को है जो दूसरों को कष्ट पहुँचाये बिना खुद कष्ट उठाने को उद्यत हुए और जिन्होंने अपनी दृष्टि के अनुसार सत्य की खातिर कष्ट सहे भी। जमीन की मुक्ति के सम्बन्ध में भी यही होना चाहिए। मेरा विश्वास है कि ऐसे लोग है जो इस महान कार्य को सिद्ध करेंगे। ज़मीन का सवाल दास-प्रथा के सवाल जितना ही परिपक्व हो चुका है। पचास वर्ष पहले जिस प्रकार समाज मे दास-प्रथा के विरुद्ध बैचेनी फैल गई थी और हर प्रकार के बाह्य उपचार किये गये, किन्तु जब तक दास-प्रथा का परिपक्व सवाल हल न हुआ, कोई नतीजा नही निकला। इसी प्रकार आज जब तक भूमि का परिपक्व सवाल हल न होगा, तब तक बाह्य उपचारो से न कुछ सहायता मिलेगी, न मिल सकती है। यह सवाल उन लोगो द्वारा हल न होगा, जो बुराई की बुराई को कम करने, अथवा लोगो को राहत पहुँचाने अथवा भविष्य पर दार-मदार बाँधने की चेष्टा करते है। इसका श्रेय तो उन्हे मिलेगा, जो यह समझते है कि गलती का चाहे जितना परिमार्जन किया जाय, गलती, गलती ही रहेगी। जिस आदमी को हम सता रहे हो उसको राहत पहुँचाने की कोशिश बेकार है और जब लोग कष्ट भुगत रहे है तो उनकी पीड़ा को मिटाने का सर्वोत्तम इलाज होना चाहिए।

भूमि समस्या को हल करने का तरीका हेनरी जार्ज ने इतना बढ़िया निकाला है कि वर्तमान राज्य संगठन और अनिवार्य कर-वसूली के दायरे मे उससे ज्यादा व्यावहारिक, न्याय पूर्ण और शान्तिमय तरीका दूसरा

नही हो सकता। मेरे ख्याल मे हेनरी जार्ज का यह विचार सही है कि जमीन पर व्यक्तिगत मिल्कियत के पाप का अन्त निकट है। उसने जिस आन्दोलन को जन्म दिया, वह प्रसव की आखरी वेदना थी, अब नव-जीवन निकट है, लोगो के लम्बे कष्टो का अन्त होने वाला है। मेरा ख्याल है कि इस भीषण और विश्वव्यापी पाप का अन्त मनुष्य-जाति के इतिहास मे एक युगान्तर होगा। मै चाहता हूं कि योरोप और अमेरिका के लोगो की भांति मेरे देशवासियो को कारखानो की शरण न लेना पडे, वे जमीन पर व्यक्तिगत स्वामित्व का अन्त कर के इस समस्या को हल करे और दूसरे लोगो के सामने न्यायपूर्ण, स्वतन्त्र और सुखी जीवन का उदाहरण पेश करे। आशा है हम लोग, जो दूसरो के श्रम द्वारा पोषण पाते है और जिन्हे दूसरो की बदौलत मानसिक कार्य करने का अवकाश मिला है, अपने पाप को पहचानेगे और व्यक्तिगत लाभ की परवाह न करते हुए सत्य की खातिर उसको मिटा डालेगे।

: ४ :

ज़मीन का विभाजन

ज़मीन के बटवारे के सम्बन्ध मे हेनरी जार्ज की योजना यह है—ज़मीन के उपयोग के लाभ और सुभीते हर जगह समान नही होते। जो ज़मीन उपजाऊ, अच्छी जगह और घनी आबादी के नजदीक होगी, उसको बहुत से लोग प्राप्त करना चाहेगे। जमीन जितनी ही ज्यादा अच्छी और लाभदायक होगी, उतना ही अधिक लोग उसे लेना चाहेगे। अत इस प्रकार की तमाम जमीन की क़ीमत उसकी उपयोगिता के हिसाब से आकी जानी चाहिए। जो जमीन जितनी लाभदायक हो, वह उतनी ही मंहगी हो और जो कम लाभदायक हो, वह सस्ती हो। जिस ज़मीन के बहुत थोड़े ग्राहक हो उसकी कोई कीमत न होनी चाहिए, वह तो उन लोगों को, जो उसे उपयोग में लेना चाहें, बिना मूल्य दे दी जाय।

जब देश की तमाम ज़मीन को इस प्रकार मूल्य आंक लिया जाय,

तो हेनरी जार्ज का प्रस्ताव यह है कि सरकार एक कानून बनावे जिसके अनुसार अमुक वर्ष की अमुक तारीख के बाद जमीन किसी व्यक्ति-विशेष की मिल्कियत न होकर सारे राष्ट्र की यानी तमाम लोगों की हो जाय। और जमीन रखने वाला प्रत्येक व्यक्ति उस जमीन का निर्दिष्ट वार्षिक मूल्य राष्ट्र को यानी तमाम लोगों को अदा करे। इस रकम मे से तमाम सार्वजनिक अथवा राष्ट्रीय कामो के लिए खर्च किया जाय और दूसरे तमाम टैक्सों की वसूली बन्द कर दी जाय।

इसका परिणाम यह होगा कि कोई भी भूस्वामी चाहे जितनी जमीन अपने अधिकार मे रख सकेगा, किन्तु उसके बदले मे उसे काफी रकम सरकार को देनी पड़ेगी, यदि जमीन की दर पाच रुपया बीघा हो तो दो हजार बीघा जमीन के लिए भूस्वामी को दस हजार रुपया वार्षिक देना पड़ेगा और इतनी बडी रकम दे सकना उसके लिए आसान न होगा। देहातो मे रहने वाले किसान कम खर्च पर अपनी आवश्यकतानुसार जमीन पा सकेंगे। इसके अलावा उन्हें और कोई टैक्स न देना पड़ेगा और वे देशी और विदेशी तमाम माल बिना कोई कर चुकाये खरीद सकेंगे। शहरों मे मालिक मकानों और कारखानों के मालिक बने रह सकते है, किन्तु उनको अपनी जमीन की निर्दिष्ट दर सार्वजनिक कोष मे भरते रहना होगा।

इस व्यवस्था के निम्नलिखित लाभ होंगे—

१. कोई भी व्यक्ति अपने उपयोग के लिए जमीन प्राप्त करने से वंचित न रहेगा।

२. ऐसे आलसी लोगों का अस्तित्व मिट जायगा जो ज़मीन पर कब्जा जमाये हुए है और उसको उपयोग मे लाने की इजाजत देने के बदले दूसरों को काम करने के लिए मजबूर करते है।

३. ज़मीन उन लोगों के अधिकार में होगी, जो उसको काम मे लेंगे। उनके अधिकार मे नही जो खुद उसका उपभोग नहीं करते।

४. चूकि ज़मीन पर श्रम करने वालों को ज़मीन मिल जायगी

इसलिए वे कारखानों और फैक्टरियो मे मजदूर बनकर अथवा शहरों मे नौकर बनकर काम न करेंगे और देहातों में बस जायगे।

५. मिलो, फैक्टरियो, कारखानो मे निरीक्षकों और टैक्स वसूल करने वालो की कोई जरूरत न रह जाएगी सिर्फ जमीन का टैक्स वसूल करने वालों की जरूरत पड़ेगी, और जमीन चुराई नही जा सकती और उस पर टैक्स वसूल करना सबसे सरल है।

६. सबसे महत्वपूर्ण बात यह होगी कि श्रम न करने वाले दूसरों के श्रम से नाजायज लाभ उठाने के पाप से बच जायंगे। इस पाप के वे बहुधा अपराधी नही होते, क्योंकि बचपन मे ही उन्हें आलस्य का पाठ पढ़ाया जाता है और वे काम करना जानते ही नही। वे उस बड़े पाप से भी बच जायगे जो उन्हे अपने पाप कर्म का समर्थन करने के लिए झूठ बोलकर करना पडता है। श्रमिको को भी श्रम न करने वालों से ईर्ष्या करने, उनकी निन्दा करने और मरने-कटने के लिए उद्यत हो जाने का लोभ और पाप न करना पडेगा और इस प्रकार मनुष्यों-मनुष्यो मे विग्रह का एक बड़ा कारण नष्ट हो जायगा।

: ५ :

मालिकों का कर्त्तव्य

हमने दो साल तक दुष्काल पीडितो को सहायता पहुंचाने का काम किया। उसके फलस्वरूप हमारा पुराना विश्वास बिल्कुल दृढ़ हो गया कि मनुष्यों के अधिकाश प्रभावों और दरिद्रता एव उनसे संलग्न पीड़ा और शोक का जन्म हमसे पृथक किसी असाधारण और क्षणिक कारण से नही हुआ है। उनके मूल मे सामान्य स्थायी-कारण है जो हम पर आधार रखते है। हम पढ़े लिखे लोगों का गरीब सीधे सादे श्रमिकों के प्रति जो अधार्मिक और भ्रातृत्व विरोधी सम्बन्ध रहा है, वही सारी बुराइयों की जड़ है। जिस दुख और अभाव का उन्हें निरन्तर सामना करना पड़ता है और उसके फलस्वरूप उन्हें जिस कटता और कष्ट सहन

का भागीदार होना पड़ता है, वे पिछले दो सालो मे और ज्यादा स्पष्ट हो गए थे। यदि इस वर्ष हमको अभाव, शीत और भूख की चर्चा नही सुनाई देती, हजारों लोग अति परिश्रम मे थक कर नही मर रहे और अध-मरे वृद्ध और बालक नहीं दिखाई देते तो इसका यह मतलब नही कि ऐसा आगे होगा ही नही। होगा सिर्फ यही कि हम ऐसे दृश्यों को न देखेंगे, हम उन्हे भुला देंगे और अपने दिल मे यकीन कर लेंगे कि उनका अस्तित्व ही नहीं है और यदि है तो वह अनिवार्य है और उसका कोई इलाज नही हो सकता। किन्तु यह मन समझावन ठीक नही। यह बिल्कुल सम्भव है कि उक्त दृश्यों का नामो-निशान मिटा दिया जाय। उनका अस्तित्व नही रहना चाहिए। समय आ रहा है जबकि दुखदाई दृश्य मिट जायंगे और वह समय निकट है।

हमको मजदूर वर्गों की नजर से मधु का प्याला कितनी ही अच्छी तरह छिपा हुआ क्यों न प्रतीत हो, श्रम के भार से कुचले गये और अधपेट मज़दूरों के बीच अपनी मौज-शौक़ की जिन्दगी का समर्थन करने के लिए हमारे बहाने चाहे जितने चतुराई पूर्ण, प्राचीन और सर्वमान्य क्यों न हों, जनता और हमारे सम्बन्धों पर अधिकाधिक रोशनी पड रही है और हमारी हालत शीघ्र ही उस अपराधी की भांति भयावह और लज्जाजनक हो जायगी जो अचानक दिन निकलने पर ही पकड़ लिया जाता है। एक व्यापारी मज़दूरों को निकम्मा और हानिकर माल देता है और उसकी अधिक से अधिक कीमत वसूल करने की कोशिश करता है अथवा मान लीजिए अच्छा उपयोगी माल देता है वह कह सकता है कि वह सच्चा व्यापार करके लोगों की आवश्यकता पूर्ण करता है। कपड़ा, दर्पण, सिगरेट अथवा शराब बनाने वाला भी कह सकता है कि वह मज़दूरों को काम देकर उनका पेट भरता है अथवा एक सरकारी कर्मचारी अधपेट रहने वाले लोगों से प्राप्त रक़म में से हज़ारों रुपया वेतन लेकर भी यह मान सकता है कि वह लोगों की भलाई के लिए काम करता है। अथवा एक भूस्वामी अपने किसान को जीवन-मजदूरी

भी न देकर कह सकता है कि वह खेती के तरीकों में सुधार करके देहाती जनता की खुशहाली बढ़ा रहा है। किन्तु अब, जब कि लोग रोटी के अभाव मे भूखों मर रहे है और दूसरी तरफ भूस्वामियों के सैकड़ों बीघा खेतो मे शराब बनाने के लिए आलू बोये गए है, उपरोक्त बाते नहीं कही जा सकती। जब कि हम ऐसे लोगों मे घिरे हुए है जो भोजन के अभाव मे और काम की अधिकता के कारण मर रहे हैं। हम यह अनुभव किये बिना नही रह सकते कि हम मजदूरों के श्रम से उत्पन्न सामग्री का जो उपयोग करते है, उसके फलस्वरूप एक ओर मजदूरों को रोटी के लाले पड़ जाते है और दूसरी ओर उन पर काम का बोझ इतना बढ़ जाता है कि उनकी कमर तोडे डाल रहा है। बाग़-बग़ीचों, कला-मन्दिरों और शिकारगाहों जैसे उच्छृंखल सुखोपभोग की बाते छोड़ दें तो भी शराब का हर गिलास, शक्कर मक्खन और मांस का प्रत्येक कण लोगों की थाली में से आता है और जितना ही हम इन वस्तुओं का उपयोग करते है उतना ही मज़दूरों का भार बढ़ जाता है।

मुझे याद है कि अकाल पड़ने से कई वर्ष पहले चेकोस्लोवाकिया की राजधानी प्रेग से एक नौजवान विद्वान देहात में मुझसे मिलने आया था। वह बड़ा नीतिमान था। हम एक किसान का घर देखने गये जो दूसरों की अपेक्षा खुशहाल था। हमने देखा कि उस घर में भी घर की मालिकन को भी अपनी शक्ति से अधिक काम करना पड़ता है, वह असमय ही वृद्ध हो गई है और फटे-पुराने कपड़े पहिने है, एक बीमार बालक है जो पड़ा-पड़ा बुरी तरह चिल्ला रहा है, एक दुबला-पतला बछड़ा और उसकी लँगड़ी मा बँधे हैं, गन्दगी और नमी है, दुर्गन्धित वायु फैली हुई है और घर का मालिक किसान चिन्ताग्रस्त और निराशा में डूबा हुआ है। मुझे याद है कि जब हम उस किसान की झोपड़ी से बाहर निकले तो मेरा साथी मुझसे कुछ कहने लगा। इतने मे अचानक उसकी आवाज बन्द हो गई और वह रो पड़ा। वह कुछ महीने मास्को और पीट्सबर्ग में रह चुका था। वहाँ वह कोलतार की सड़को पर घूमा था, सजी-धजी

दुकाने देख चुका था। वहाँ मकान भी एक से एक शानदार थे—अजायबघर, पुस्तकालय, राजभवन आदि की इमारतें एक दम भव्य थी। इस सबके बाद उसने पहिली बार उनको देखा जो यह सारा ऐश्वर्य सुलभ करते हैं। उनकी हालत देखकर वह दंग रह गया। वह समझता था कि मेरे देश में अपेक्षाकृत आज़ादी है, शिक्षा सार्वत्रिक है, हर आदमी शिक्षितों की श्रेणी में प्रवेश कर सकता है—सुखोपभोग परिश्रम का उचित पुरस्कार है और मानव जीवन को नष्ट नही करता। मैं उसका यह ख्याल सही नही मानता। लोगों ने पीढ़ी दर पीढ़ी कोयले की खानो को खोदा है। उसी कोयले से हमारे सुखोपभोग की अधिकतर सामग्री पैदा होती है। योरोप वालों को इस बात का भी क्या पता कि उपनिवेशो में दूसरी जाति के लोग उनकी सनक की पूर्ति करने के लिए मरते-खपते रहते हैं? किन्तु जो देश उपनिवेशो पर जीवित नही रहते, वे ऐसा नही समझ सकते। वहाँ यह बात बिल्कुल स्पष्ट होती है कि उस देश के धनिकों का सुखोपभोग अपने देशवासियों के दुखो और अभावों के लिए जिम्मेदार हैं। हम यह अनुभव किये बिना नही रह सकते कि हमारे आराम और सुखोपभोग की खातिर अनेक मनुष्यो के जीवन नष्ट हो जाते हैं।

सूरज निकल चुका है। प्रकट को हम नही छिपा सकते। हम सरकार की ओट में, लोगों पर शासन करने की जरूरत के नाम पर, विज्ञान अथवा कला (जो लोगों के लिए आवश्यक समझे जाते है), के नाम पर अथवा सम्पत्ति के पवित्र अधिकारों की रक्षा और अपने पूर्वजों की परम्पराओं की रक्षा के नाम पर सत्य पर पर्दा नही डाल सकते। सूरज निकल चुका हैं और ये पारदर्शी परदे कोई बात किसीसे छिपी नहीं रख सकते। हरेक आदमी अब यह समझता है और जानता है कि जो लोग सरकारी नौकरी करते हैं, वह लोगों की सेवा करने के लिए नही, (क्योंकि लोगों ने उनसे सेवा करने के लिए कब कहा था?) बल्कि वेतन पाने के लिए करते हैं और जो विज्ञान और कला के क्षेत्र में लगे हुए हैं, वे भी

लोगों को प्रकाश देनेके लिए नही, बल्कि तनखाओ और पेन्शनों के लिए लगे हुए हैं। और जो लोगों को भूमि से वचित रखने हैं, वे किन्ही पवित्र अधिकारों को कायम रखने के लिए ऐसा नही करते। उनका उद्देष्य होना है अपनी आमदनी बढाना, ताकि वे अपनी मन-मानी इच्छाओ की पूर्ति कर सके। इस सत्य को छिपाना और झूठ बोलना अब सम्भव नही रह गया है।

शासक वर्ग, धनिकों और श्रम न करने वालों के लिए अब केवल दो ही मार्ग रह गये हैं। एक मार्ग तो यह है कि वे न केवल धर्म को असली अर्थों मे तिलांजलि दे दे, बल्कि मानवता, न्याय और इस प्रकार के तमाम सद्गुणों को ताक मे रखदे और साफ-साफ कहदे—"हमारे ये विशेषाधिकार है, और कुछ भी क्यो न हो हम उनकी रक्षा करेगे। जो भी हमको वचित करना चाहेगा, उनको हमसे लड़ना होगा? ताकत हमारे साथ मे है। फाँसी के तख्ते, जेलखाने, अदालतें, पुलिस सभी हमारे अधिकार मे है।" दूसरा मार्ग यह है कि हम अपना अपराध स्वीकार करलें, झूठ बोलना छोड़ दे, पश्चात्ताप करे और लोगो की सहायता करें—थोथे शब्दों से नहीं जैसा कि हम करते आये है अर्थात् लोगों को दुख और कष्ट पहुँचा कर जो लाखो रुपया इकट्ठा कियो जाता है. उसमें से हजार दो हजार खर्च कर देते है, बल्कि श्रमिकों और हमारे बीच जो अप्राकृतिक दीवार खड़ी है उसको तोड डाले और केवल शब्दों में ही नहीं, बल्कि वस्तुतः उनको अपना भाई स्वीकार करले। हम अपने जीवन-क्रम को बदल दे, अपनी सुविधाओं और विशेषाधिकारों को तिलांजलि दे दें और उसके बाद जनता के समकक्ष खड़े हों और आम लोगों के साथ शासन, विज्ञान और समता के वरदानों को प्राप्त करे जिनको कि हम बिना उनकी इच्छा जाने बाहर से देने की कोशिश करते आये है। हम चौराहे पर खड़े है और हमको फैसला करना है कि हमको किस रास्ते पर चलना है।

पहले मार्ग का अर्थ यह है कि हम सदा के लिए असत्य को अपनाने

हैं, हमको यह निरंतर डर बना रहता है कि कही हमारे असत्य का पर्दा फाश न हो जाय। उस दशा मे यह महसूस होता है कि आगे-पीछे एक-न-एक दिन हमको उस स्थान से अलग कर दिया जायगा, जिससे कि हम इस कदर चिपटे हुए हैं। दूसरे मार्ग का अर्थ यह है कि हम स्वेच्छा-पूर्वक उस बात को स्वीकार करले जिसका हम दावा करते आये हैं और जो हमारा हृदय और विवेक चाहता आया है तथा उस पर अमल शुरू करदें; क्योंकि यह आगे-पीछे होकर रहना है। यदि हम खुद न करेंगे तो दूसरे लोगों के इस शक्ति-संन्यास में ही वर्तमान संसार के कष्टो का अन्त निहित है। हम वास्तविक धर्म को अपनावे और जो असत्य है उसका त्याग करें, तभी मुक्ति संभव है।

: ६ :

मजदूर क्या करें ?

मैं अब अधिक दिन जीने वाला नही हूँ और मरने के पहले मैं मजदूरों को बता देना चाहता हूँ कि मैने उनकी पद्दलित अवस्था के सम्बन्ध में क्या सोचा है, और वे किन उपायों के द्वारा अपने को आजाद कर सकते हैं। शायद जो कुछ मैने सोचा है (मैने बहुत सोचा है) वह मजदूरों के लिए उपयोगी साबित हो जाय। सम्भवत: मै यह रूस के श्रमजीवियों को लक्ष में रखकर लिख रहा हूँ, कारण; मै उन्हीके बीच में रहता हूँ और दूसरे देशों के मजदूरों की अपेक्षा उन्हे ज्यादा अच्छी तरह जानता हूँ। किन्तु मुझे आशा है कि मेरे कुछ विचार अन्य देशों के मजदूरों के लिए भी बेकार साबित न होंगे।

श्रमजीवियों, तुमको अपनी तमाम जिन्दगी कठोर परिश्रम करते हुए गरीबी में गुजारनी पड़ती है और दूसरी ओर ऐसे लोग हैं जो बिल्कुल काम नहीं करते एव तुम जो कुछ पैदा करते हो, उससे लाभ उठाते हैं। तुम उन लोगों के गुलाम हो। किन्तु जो सहृदय और समझदार व्यक्ति हैं उनको यह ज्ञान हो चुका है कि ऐसा नहीं होना चाहिए।

पर इसका उपाय क्या है ? पहला सरल और स्वाभाविक उपाय तो यह प्रतीत होता है कि जो लोग तुम्हारे श्रम का अनुचित लाभ उठाते हैं, उनसे वह जबर्दस्ती छीन लिया जाय। पुराने जमाने से लोगों को यही उपाय सूझता आया है। अति प्राचीन काल में रोम के गुलामों ने और मध्य-युग मे जर्मनी तथा फ्रांस के किसानों ने और स्टेंका रासिन के समय रूसी लोगों ने इसी उपाय का अवलम्बन किया था।

अन्याय-पीडित श्रमजीवियों को सबसे पहले यही उपाय नजर आता है। किन्तु उससे न केवल उद्देश्य की सिद्धि ही नही होती, बल्कि उनकी हालत सुधरने के बजाय और ज्यादा बिगड़ जाती है। पुराने जमाने में जब सरकारों की ताकत आजकल की जितनी संगठित न थी, ऐसे विद्रोहों के सफल होने की आशा की जा सकती थी। किन्तु आज राज्य-सस्था के पास करोड़ों रुपये, रेल, तार, पुलिस, सैनिक मौजूद हैं। आज तो विद्रोहों का परिणाम यह निकलता है कि मजदूरों को और भी सताया जाता है और फासी के तख्तों तक पर चढ़ा दिया जाता है एवं मजदूरों पर मुफ्तखोरों की सत्ता और भी स्थायी हो जाती है।

मज़दूरों, हिंसा का मुकाबला हिंसा से करने की कोशिश करके तुम वही काम करते हो जो रस्सी से जकडा हुआ आदमी रस्सी को खींचकर करता है। ऐसा कर के वह रस्सी की गाठों को और भी अधिक कस देता है। जो चीज़ तुमसे बलपूर्वक छीन ली गई है, उसको बल-प्रयोग द्वारा प्राप्त करने की कोशिश का भी वही नतीजा होगा। अर्थात् तुम्हारे बन्धन और मजबूत हो जायगे।

अब यह स्पष्ट है कि मार-काट का उपाय अपने उद्देश्यो मे सफल नहीं होता, बल्कि उससे मजदूरों की दशा सुधरने के बजाय बिगड़ जाती है। इसलिए, हाल में मज़दूरो के उद्धार के लिए श्रमजीवियो के हित-चिन्तकों ने अथवा हित-चिन्ता करने का दावा करने वालो ने एक नया उपाय खोज निकाला है। इसका मुख्य आशय यह है कि तमाम श्रम-जीवियों को अपनी ज़मीनों से हाथ धो लेना पड़ेगा और वे कारखान

मे मजदूरी करने लगे । इस सिद्धान्त के अनुसार यह उतना ही निश्चित है, जितना कि निश्चित समय पर पूर्व मे सूर्य का उदय होना । फिर यह श्रमजीवी अपने सगठन कायम करेंगे, प्रदर्शन करेगे और धारा सभाओ मे अपने पक्षपातियों को चुनकर भेजेंगे और अपनी हालत सुधारते जायगे, यहा तक कि अन्त मे तमाम मिलों और कारखानों तथा ज़मीन सहित उत्पत्ति के तमाम साधनों पर कब्ज़ा जमा लेंगे । इसके बाद वे बिल्कुल आज़ाद और सुखी हो जायगे । यद्यपि यह सिद्धात अस्पष्ट है, मनमानी कल्पनाओं और परस्पर विरोधी बातो से भरा पडा है और बिल्कुल मूर्खतापूर्ण है तो भी इधर उसका अधिकाधिक प्रचार हो रहा है । यह सिद्धात उन देशो मे ही नही माना जा रहा है जहा अधिकतर आबादी कई पीढ़ियो मे खेती को छोड़ चुकी है, बल्कि उन देशो मे भी माना जा रहा है जहा मजदूरों ने अभी भूमि को छोड़ने की कल्पना भी नहीं की है ।

इस शिक्षा का पहला तकाजा यह है कि देहात के श्रमजीवी खेती सम्बन्धी विविध धन्धो के परम्परागत, स्वास्थ्यकर और सुखी वातावरण मे एक ही प्रकार के जीवन-नाशक काम करने लगे । देहात में मजदूर एक तरह की आज़ादी अनुभव करता है और प्रायः अपनी सारी आवश्यकताएँ अपने श्रम से पूरी कर लेता है । उसके मुकाबले मे कारखानों में मजदूर मालिक पर पूरी तरह निर्भर हो जाता है । ऐसी दशा मे जिन देशों मे श्रमजीवी खेतों पर निर्वाह कर रहे है यह शिक्षा सफल न होनी चाहिए ।

किन्तु रूस जैसे देशो मे भी, जहाँ ९८ प्रतिशत आबादी खेती पर जीवन निर्वाह करती है, शेष दो प्रतिशत श्रमजीवी, जो खेती का धन्धा छोड़ चुके हैं, इस शिक्षा के प्रचार को बड़ी तत्परता के साथ ग्रहण कर लेते हैं । यह इसलिए होता है कि खेती को छोड़ने वाला श्रमजीवी अनजाने शहर और कारखानों की ज़िन्दगी के प्रलोभन में फँस जाता है । और समाजवादी शिक्षा इन प्रलोभनों की न्यायोचितता का

समर्थन करती है। वह आवश्यकताओं की वृद्धि को मनुष्य के विकास का चिन्ह मानती है।

ये श्रमजीवी समाजवाद की शिक्षा की अधूरी बातों का बड़े उत्साह के साथ अपने साथियों मे प्रचार करते हैं। इस प्रचार के फल-स्वरूप और अपनी जरूरतों को बढ़ा लेने के कारण वे अपने को प्रगतिशील सुधारक और देहाती किसान से ऊँचा समझने लगते हैं। किन्तु देहातों के श्रमजीवियों को संघ कायम करने, जुलूस निकालने, अपने पक्ष के प्रतिनिधि धारा सभाओं में भेजने आदि कार्यों से, जिनके द्वारा कारखानों के मजदूर अपनी गिरी हुई हालत को सुधारने की चेष्टा करते हैं, कोई खास दिलचस्पी नही होती।

दहातों के श्रमजीवियों के लिए यह बिल्कुल जरूरी नही कि उनकी मजदूरी बढाई जाय अथवा काम के घंटे कम किये जायँ। उन्हें तो केवल एक ही चीज़ की जरूरत है और वह जमीन है। सभी जगह उनके पास इतनी कम ज़मीन रह गई है कि वे उससे अपने परिवार को भरण-पोषण नही कर सकते। किन्तु श्रमजीवियों की इस सबसे बड़ी जरूरत के सम्बन्ध में समाजवादी शिक्षा मौन है।

समाजवादी पंडित कहते हैं कि पहले खानों और कल-कारखानों को हाथ में लेना चाहिए और बाद में ज़मीन को। समाजवादियों की शिक्षा के अनुसार ज़मीन पर अधिकार प्राप्त करने के पहले श्रमजीवियों को मिलों और कल-कारखानों पर अधिकार पाने के लिए पूजीपतियों से झगड़ना चाहिए। जब वे इसमें सफल हो जायँगे, तभी वे जमीन पर भी कब्जा कर सकेंगे। मनुष्यों को ज़मीन की ज़रूरत है, किन्तु उन्हें कहा यह जाता है कि ज़मीन को प्राप्त करना है तो पहले उसे छोड़ दो। इसके बाद समाजवादी पैगम्बरों द्वारा बताए हुए पेचीदा ढँग से मिलों और कारखानों के अलावा जिनकी उन्हें जरूरत नहीं है, ज़मीन भी उन्हें मिल जायगी। यह बात उन तरीकों की याद दिलाते हैं जो कुछ सूदखोर काम में लाते हैं। आप एक सूदखोर से एक हजार रुपया माँगते हैं। आपको

सिर्फ रुपये की जरूरत है, किन्तु सूदखोर आपसे कहता है कि मैं आपको एक हजार रुपया तभी दे सकता हूँ, जब आप चार हजार रुपये की ऐसी चीजें भी मुझ से लें, जिनकी आपको जरूरत नहीं है। इसी प्रकार समाजवादी पहले तो इस सर्वथा गलत निर्णय पर पहुँचे कि मिल अथवा कारखाने की भांति जमीन भी श्रम का एक साधन है और फिर मजदूरों को सलाह देने लगे कि जमीन को छोड़ दो, हालांकि जमीन के अभाव में ही वे कष्ट पा रहे हैं और उन कारखानों पर कब्जा प्राप्त करने की कोशिश करो, जो तोपें, बन्दूकें, सुगन्धित इत्र, साबुन, दर्पण आदि विविध प्रकार की विलासिता की सामग्री उत्पन्न करते हैं। और जब श्रमजीवी यह सामग्री बनाने में दक्षता प्राप्त कर लेंगे और खेती का काम भूल चुकेंगे तो उन्हें जमीन पर भी अधिकार करने के लिए कहा जायगा।

खेती सुखी और स्वतन्त्र मानव जीवन का एक मुख्य साधन रही है और आगे भी रहेगी। इस बात को तमाम मनुष्य जानते आए हैं और जानते हैं और इसीलिए उन्होंने हमेशा कृषि द्वारा जीवन निर्वाह करने की कोशिश की है और आगे भी करते रहेंगे। जिस प्रकार मछली पानी बिना जिन्दा नही रह सकती उसी प्रकार मनुष्य खेती बिना जिन्दा नही रह सकता।

किन्तु समाजवादी शिक्षा में कहा जाता है कि मनुष्यों के सुख के लिए यह जरूरी नहीं है कि वे वनस्पति जगत और पशुओं के बीच जीवन-यापन करें और अपने कृषि सम्बन्धी श्रम द्वारा ही प्रायः अपनी तमाम आवश्यक जरूरतें पूरी कर लिया करें। इसके लिये तो उन्हें कारखानों के केन्द्र स्थानों में रहना चाहिए, जहां की हवा सदा दूषित बनी रहती है। उन्हें अपनी जरूरतें बराबर बढ़ाते जाना चाहिए और यह जरूरतें तभी पूरी हो सकती हैं जब कारखानों में विचार-रहित श्रम किया जाय। और श्रमजीवी कारखानों के जीवन के जाल में फँस कर इस समाजवादी शिक्षा को सच मान लेते हैं। वे काम के घन्टों और मजदूरी प्राप्त करने के लिए पूंजीपतियों के साथ कठोर लड़ाई लड़ने में

अपनी तमाम ताकत खर्च कर देते हैं और समझने लगते है कि वे बहुत महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। किन्तु उन श्रमजीवियों के लिए जो ज़मीन से जुदा कर दिए गए है एक ही बात जरूरी है। उन्हें अपनी तमाम शक्तियाँ ऐसा कोई साधन ढूढने में खर्च करनी चाहिए कि वे पुनः खेती कर सकें और प्रकृति के बीच नैसर्गिक जीवन बिता सकें। किन्तु समाजवादी कहते है कि यदि यह सच भी हो कि प्रकृति की गोद मे रहना कारखानों के जीवन से अच्छा है तो भी कारखानों में काम करने वालों की तादाद इतनी बढ़ चुकी है, और कृषि जीवन को छोड़े उन्हें इतना अधिक समय हो चुका है कि अब वे खेती का आश्रय नही ले सकते। कारण, यदि वे खेती करने के लिए लौट जायँगे तो अकारण कारखानों में पैदा होने वाली चीजों की मात्रा घट जायगी और यह चीज़े ही देश की सम्पत्ति होती है। इसके अतिरिक्त यदि ऐसा न हो तो भी इतनी ज़मीन नही मिल सकेगी कि जिस पर कारखानों के तमाम मजदूर काम कर सकें और उनका भरण-पोषण हो जाय।

पर यह सही नहीं है कि कारखानों के मज़दूरों के खेती को अपना लेने से देश की सम्पत्ति कम हो जायगी। कारण खेती करने वाले श्रमजीवी अपना कुछ समय घर पर अथवा कारखानों में जाकर चीज़ें बनाने में लगा सकते है। किन्तु यदि इस परिवर्तन से एक ओर बेकार और हानिकर चीजों की उत्पत्ति कम हो जाय, जो कि कारखानों मे बड़ी तेजी के साथ हो रही हैं तथा आवश्यक वस्तुओं का वर्तमान अत्यधिक उत्पादन बन्द हो जाय और दूसरी ओर अनाज, सब्जी, फल और घरेलू पशुओं की उत्पत्ति बढ़ जाय तो इससे राष्ट्र की सम्पत्ति किसी प्रकार कम न होगी बल्कि वह बढ़ेगी ही।

और यह दलील भी सही नही है कि कारखानों के श्रमजीवियों के लिए पर्याप्त जमीन न मिल सकेगी। अधिकांश देशों में भूस्वामियों के कब्ज़े में जो जमीन है, वह तमाम श्रमजीवियों के लिए पर्याप्त होगी। यदि खेती आधुनिक ढँग से की जाय, अथवा कम से कम उसी ढँग से

की जाय, जिस ढँग से एक हजार वर्ष पहिले चीन में की जाती थी।

इस प्रश्न में दिलचस्पी रखने वाले लोगों को क्रोपाटकिन की Conquest of Bread* और Field, Factories & Workshop नामक पुस्तकें पढ़नी चाहिए। उन्हें तब भली प्रकार ज्ञात हो जायगा कि खेती करने पर खेती की पैदावार कितनी बढ़ाई जा सकती है और उतनी ही जमीन से कितन अधिक आदमियों का भरण-पोषण हो सकता है। धनवान भूस्वामियों को जमीन की उत्पादन शक्ति बढ़ाने की कोई जरूरत नहीं मालूम पड़ती। कारण, उन्हें बिना कोई कष्ट किए जमीन से काफी आय मिल जाती है। किन्तु छोटे किसानों को यदि अपनी कमाई का सारा भाग भूस्वामियों को न देना पडे तो वे खेती के सुधरे हुए तरीकों को जरूर अपनावेंगे।

यह कहा जाता है कि इतनी जमीन नही है कि उस पर सब श्रमजीवी काम कर सकें। इसलिए उस जमीन के लिए झगड़ा करना फिजूल है, जिसको भूस्वामियों ने दबा रक्खा है। यह दलील उस मालिक मकान की दलील जैसी ही है जिसके पास एक खाली मकान पड़ा है, किन्तु वह लोगों की भीड़ को आँधी और वर्षा में शीत से बचने के लिए उसमें इसलिए नही घुसने देता कि उस मकान मे सब लोगों का समावेश नहीं हो सकता। पहिली बात तो यह है कि जो लोग मकान में दाखिल होना चाहते है उन्हें दाखिल होने देना चाहिये और फिर देखना चाहिए कि वे सब उसमें स्थान पा सकते है अथवा नही। और यदि सब स्थान न पा सकें तो जो पा सकते हों उन्हें ही स्थान क्यों न दिया जाय? जमीन के बारे में भी यही बात है। जो लोग जमीन मांगते है उनको भूस्वामियों की जमीन दी जानी चाहिए। और तब यह देख लिया जायगा कि वह काफी होगी अथवा नहीं। इसके अलावा यह बात भी करीब-करीब गलत है कि कारखानों में काम करने वाले मजदूरों के लिए जमीन काफी न

---

* इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद मण्डल ने 'रोटी का सवाल' नाम से किया है।

होगी। यदि कारखानों के मज़दूरों का गुजारा अभी ख़रीदे हुए अन्न पर होता है तो दूसरों का पैदा किया हुआ अन्न खरीदने के बजाय वे स्वयं ही अपने लिए आवश्यक अन्न पैदा क्यों न करें, चाहे ज़मीन उन्हें हिन्दुस्तान, अर्जेन्टाइना. आस्ट्रेलिया अथवा साइबीरिया—कहीं भी मिले?

इसलिए वे सब दलीलें आधार रहित हैं जिनमे कहा जाता है कि कारखाने के मजदूर खेती का आश्रय नही ले सकते या उन्हें नही लेना चाहिए। इसके विपरीत यह परिवर्तन सर्व साधारण के लिए हानिकर होने के बजाय लाभदायक ही होगा और निस्सन्देह भारत और अन्य अन्य देशों में आये दिन पड़ने वाले अकालों का खात्मा हो जायगा, जो इस बात को बड़ी अच्छी तरह सिद्ध करते हैं कि जमीन का मौजूदा बंटवारा गलत है।

यह सच है कि जिन देशों मे कल-कारखानों का खास तौर पर विकास हो चुका है जैसा कि इग्लैण्ड, बेलजियम और अमेरिका के कुछ राज्यों मे दिखाई देता है, वहां श्रमजीवियों का जीवन इतना बिगड़ गया है कि अब उनके लिए खेती को अपना सकना बहुत कठिन प्रतीत होता है। किन्तु इस कठिनाई से यह नहीं मान लेना चाहिए कि वे खेती को अपना ही नही सकते। इसके लिए तो सब से पहले यह ज़रूरी है कि श्रमजीवी इस परिवर्तन को अपने लिए लाभदायक समझें और यह न मान बैठे, जैसा कि समाजवादी सिद्धांत उन्हे सिखाता है, कि कारखानों की गुलामी शाश्वत और अपरिवर्तनीय अवस्था है, जिसमे सुधार किया जा सकता है, पर जो खत्म नहीं की जा सकती। इसके विपरीत उन्हें खेती को अपनाने के आवश्यक साधनों की खोज करनी चाहिए।

इस प्रकार जो श्रमजीवी खेती करना छोड़कर कारखानो में मज़दूरी करने लगे है, उनको श्रमजीवी संघों, हड़तालों और पहली मई को झण्डे लेकर सड़क पर बच्चों जैसे प्रदर्शन करने की जरूरत नही। उन्हें तो सिर्फ एक ही बात की आवश्यकता है और वह यह कि किस प्रकार उनको

कारखानों की गुलामी से छुटकारा मिले और वे खेती पर गुज़र-बसर करने लगें। इसमें बाधक हैं वे भूस्वामी, जो स्वय काम नही करते, पर जिन्होंने बड़ी मात्रा में ज़मीन को हड़प रखा है। श्रमजीवियों को वह जमीन दिलवा देने की अपने शासकों से प्रार्थना और मांग करनी चाहिए। इसमें वे किसी बाह्य वस्तु की माग न करेंगे, जिस पर उनका अधिकार न हो। ज़मीन पर रहने और उससे अपना भरण-पोषण करने का अन्य प्राणियों की भाति उनका भी बिल्कुल स्पष्ट और अमर्यादित अधिकार है। इसके लिए उन्हें दूसरों से अनुमति लेने की आवश्यकता नही होनी चाहिए। उन्हें अपने इसी अधिकार की मांग करना है।

ज़मीन पर व्यक्तिगत मिल्कियत को खत्म करना अनिवार्य हो गया है, कारण इस प्रथा का अन्याय, उसकी तर्क-हीनता और निर्दयता बहुत स्पष्ट हो चुकी है। सवाल सिर्फ यही है कि उसको खत्म किस प्रकार किया जाय? रूस और अन्य देशो मे गुलामी की प्रथा का अन्त सरकारी आज्ञाओं द्वारा किया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि भूमि पर व्यक्तिगत मिल्कियत का अन्त भी सरकारी आज्ञा द्वारा ही होगा। किन्तु शासन-तंत्र ऐसी आज्ञाये क्वचित ही दिया करते हैं।

शासन-तंत्रों में ऐसे लोगों का बोल-बाला होता है जो दूसरे लोगों के श्रम पर जीवन बसर करते हैं और ज़मीन पर व्यक्तिगत मिल्कियत के द्वारा वैसा जीवन बिताना सबसे अधिक आसान होता है। इसलिए केवल शासक और भूस्वामी ही इस सुधार का विरोध नही करेंगे बल्कि वे लोग भी करेंगे जो शासन अथवा भूस्वामीवाद के अग नही हैं लेकिन फिर भी धनवानों की सेवा करते हैं। ऐसे सरकारी कर्मचारी, कलाकार और वैज्ञानिक ज़मीन पर व्यक्तिगत स्वामित्व को अपने लिए लाभदायक समझते हुए उसका समर्थन करेंगे अथवा कम जरूरी बुराइयों का विरोध करेंगे, किन्तु इस बड़ी समस्या को स्पर्श तक न करेंगे। अधिकांश खाते-पीते लोग जान-बूझ कर न सही तो कम-से-कम संस्कार-वश यह महसूस करते हैं कि उनकी सुविधाजनक अवस्था का आधार भूस्वामीवाद है।

यही कारण है कि धारा-सभाओं मे लोगों की भलाई की चिन्ता का दिखावा किया जाता है। उनकी कथित भलाई के नाम पर क़ानून बनाये जाते हैं और चर्चायें की जाती है। किन्तु जमीन पर व्यक्तिगत स्वामित्व की प्रथा का अन्त करने का जिक्र भी नही किया जाता जो कि लोगों की भलाई के लिए नितान्त आवश्यक है।

इसलिए जमीन पर व्यक्तिगत स्वामित्व की समस्या को हल करने के लिए सब से पहले यह आवश्यक है कि उसके सम्बन्ध में जान-बूझकर जो मौन साध लिया गया है उसे भंग किया जाय। यह अवस्था उन देशों में है जहां सत्ता का एक भाग धारा सभाओं के हाथ मे है किन्तु जिन देशों में सारी सत्ता राजा के हाथ में हो, वहां जमीन पर व्यक्तिगत मिल्कियत उठाने की आज्ञा निकल सकने की और भी कम संभावना समझनी चाहिए। राजाओं के हाथ मे भी सत्ता नाम के लिए ही होती है। दर असल वह उन लोगों के हाथ में होती है जो राजा के सम्बन्धी और निकटवर्ती होते हैं। ये लोग राजा को अपनी इच्छानुसार नचाते हैं। इनके अधिकार मे बहुत सारी जमीन होती है और यदि राजा चाहे तो भी उस ज़मीन को उनके हाथों से नहीं निकाल सकता। इसलिए यह आशा करना कि शासन-तंत्र जमीन को भूस्वामियों के हाथो से छीन लेगा, दुराशा-मात्र है। बल-प्रयोग द्वारा भी ऐसा नही किया जा सकता, कारण, सत्ता हमेशा उन लोगों के हाथों में रही है और रहेगी जिनका कि ज़मीन पर पहले से अधिकार चला आया हो। समाजवादियों की योजना के अनुसार ज़मीन की वापसी की प्रतीक्षा करना भी मूर्खतापूर्ण होगा। यह भविष्य की आशा पर उत्तम जीवन की परिस्थितियों को छोड़कर बुरी परिस्थितियों को अपनाने के सदृश होगा। हरेक समझदार आदमी यह समझता है कि इस योजना से श्रमजीवियों को मुक्ति तो मिलती नहीं, उल्टे वे मालिकों के और भी ज्यादा गुलाम बन जाते हैं और आगे क़ायम होने वाले कारखानों के संचालकों के गुलाम बनने को तयार होते रहते है। प्रतिनिधि शासन अथवा राजाओं से भी भूस्वामीवाद के अन्त

की आशा नही की जा सकती । राजाओं के निकटवर्ती लोगों के अधिकार में बड़ी-बड़ी जागीरे होती हैं । ये लोग किसानों की भलाई के लिए चिन्ता भले ही प्रकट करें, पर वे उन्हें जमीन हर्गिज न सौंपेंगे । कारण, वे जानते हैं कि ज़मीन पर स्वामित्व क़ायम रखे बिना वे अपनी सुविधा-जनक स्थिति अर्थात् बिना श्रम किये दूसरों की मेहनत से लाभ उठाने की स्थिति क़ायम न रख सकेंगे । तो फिर श्रमजीवियों को उस अत्याचार से मुक्त होने के लिए क्या करना चाहिए जिसके वे इस समय शिकार बने हुए हैं ।

शुरू में तो ऐसा प्रतीत होता है कि इस स्थिति का कोई इलाज़ ही नहीं है और मज़दूर इतने जकड़ चुके हैं कि वे आज़ाद नहीं हो सकते, किन्तु यह कोरा खयाल है । मज़दूरों को केवल अपने पर होने वाले अत्याचारों के कारणों पर गहराई से विचार करने की ज़रूरत है; उन्हें ज्ञात होगा कि मार-काट, समाज़वाद, अथवा सरकार पर थोथी आशाएँ बांधने के अलावा उनके पास अपनी आज़ादी हासिल करने का एक और उपाय है जो अचूक है ओर जिसे कोई बाधा नहीं पहुँचा सकता । यह उपाय हमेशा उनके हाथों में रहा है और अब भी है ।

वस्तुतः मज़दूरों की भयंकर दुरवस्था का एक ही कारण है और वह यह है कि जिस ज़मीन की उन्हें ज़रूरत है, उस पर भूस्वामियों ने कब्जा कर रखा है । किन्तु प्रश्न यह है कि भूस्वामी इस ज़मीन को अपने अधिकार में क्योंकर रखे हुए हैं ? पहिली बात तो यह है कि यदि मज़दूर इस ज़मीन का उपयोग करने की कोशिश करें तो राज्य की फौजें उन्हें ऐसा न करने देंगी; मज़दूरों को मार-पीट कर हकाल दिया जायगा और ज़मीन पुनः भूस्वामियों को सौंप दी जायगी । और इन फ़ौजों में श्रमजीवी ही तो होते हैं । इस प्रकार खुद श्रमजीवी ही भूस्वामियों को उस ज़मीन पर अपना अधिकार बनाये रखने के लिए समर्थ बनाते हैं जो न्यायतः उनकी नहीं है, बल्कि सबकी है । यही नहीं, श्रमजीवी उस ज़मीन पर खेती करते हैं और भूस्वामियों को लगान देकर उनका उस पर अधिकार क़ायम

रखते है। श्रमजीवियों को यह बन्द कर देना चाहिए। फिर भूस्वामियों के लिए उस ज़मीन पर कब्जा रखना न केवल व्यर्थ बल्कि असम्भव हो जायगा और ज़मीन सबकी सम्पत्ति बन जायगी। किन्तु यह सम्भव है कि उस दशा में भूस्वामी श्रमजीवियों के बजाय मशीनों से काम लेने लग जायँ और खेती के बजाय पशुपालन और जंगलात का काम शुरू कर दें, पर उनका काम मजदूरों के बिना नही चल सकता और वे चाहें या न चाहें, उन्हें क्रमश: अपनी जमीनें छोड़ देनी पड़ेंगी। इस प्रकार श्रमजीवियों के लिये गुलामी से आजाद होने का उपाय केवल यह है कि वे भूमि पर व्यक्तिगत मिल्कियत को अपराध समझने लगें और उस ताकत को सहयोग न दें जो मजदूरों को जमीन से वंचित करती है और न भूस्वामियों के खेत-मजदूर बने और न ही उनकी जमीन को लगान पर जोतें-बोयें।

यह दलील दी जा सकती है कि यह उपाय तभी कारगर हो सकता है जब दुनिया भर के श्रमजीवी सहयोग करके खेत-मजदूर बनने अथवा जमीन लगान पर लेने से इन्कार करदें। किन्तु यह नहीं हो सकता। यदि कुछ मजदूर ऐसा करेंगे तो दूसरे मजदूर, दूसरी जातियों के मजदूर इस बात को जरूरी न समझेंगे और भूस्वामी जमीनों पर यथावत अपना अधिकार कायम रख सकेंगे। इस प्रकार जो श्रमजीवी असहयोग करेंगे, वे अकारण प्राप्य सुविधाओं से वंचित हो जायंगे और मजदूरों की हालत में कुछ सुधार न होगा। अगर मेरा आशय हड़ताल से होता तो यह दलील बिल्कुल सही होती। पर मैं हड़ताल का प्रस्ताव नहीं पेश कर रहा हूं। श्रमजीवी अत्याचारी सत्ता से सहयोग करना, खेत-मजदूरी करना अथवा लगान पर खेत लेना सिर्फ इसलिए बन्द न करें कि यह बातें उनके लिए हानिकर हैं और उनको गुलाम बनाने वाली हैं, बल्कि यह समझें कि जिस प्रकार हत्या, चोरी और डकैती आदि दुष्कर्मों से दूर रहना और उनमें किसी प्रकार हिस्सा न लेना उनका कर्त्तव्य है, उसी प्रकार उपरोक्त कार्यों में भाग लेना भी बुरा काम है जिससे हर आदमी को बचना चाहिये। यदि श्रमजीवी

गहराई के साथ सोचें कि श्रमजीवियों का श्रम न करने वालों की जमीनों पर काम करने का क्या अर्थ होता है तो उन्हें साफ निर्विवाद रूप से ज्ञात हो जायगा कि जमीन पर व्यक्तिगत स्वामित्व के अन्याय में हिस्सा लेना और उसे कायम रखना बुरा काम है। जमीन पर भूस्वामियों के अधिकार को कायम रखने का परिणाम यह होता है कि लाखों मनुष्य, वृद्ध, स्त्री-पुरुष और बच्चे गरीबी और कष्ट का जीवन बिताते हैं। उन्हे अध-पेट रहना पड़ता है, अत्यधिक श्रम करना पडता है और अकाल मौत के मुहँ में चला जाना पड़ता है। यह सब इसलिए होता है कि जमीन पर भूस्वामियों ने कब्जा जमा रखा है।

यदि जमीन पर भूस्वामियों का अधिकार होने के दुष्परिणाम इतने भयंकर हैं और इसमें कोई शक नही कि हैं—तो जमीन पर व्यक्तिगत स्वामित्व कायम रखने में सहयोग देना और उसका समर्थन करना स्पष्टत: पाप है, जिससे हर व्यक्ति को बचना चाहिए। करोड़ों मनुष्य सूदखोरी, आवारागर्दी, आततायीपन, चोरी, हत्या आदि बातों को पाप-कर्म समझते हैं और उनसे दूर रहते हैं। जमीन की व्यक्तिगत मिल्कियत के सम्बन्ध में श्रमजीवियों को भी यही चाहिए। इस प्रकार की मिल्कियत में अन्यायता वे खुद जानते हैं और उसको बुरी और निर्दय बात समझते हैं। तब वे उसमें शरीक क्यों होते हैं और क्यों उसका समर्थन करते हैं!

मैं हड़ताल की सलाह नहीं देता; मैं तो चाहता हूं कि जमीन पर व्यक्तिगत मिल्कियत में भाग लेने के पापकर्म को साफ-साफ महसूस किया जाय और फलस्वरूप उससे विरत हुआ जाय। यह सच है कि इस प्रकार के असहयोग से एक ही समस्या को हल करने में दिलचस्पी रखने वाले तमाम लोगों में वह तात्कालिक एकता नहीं होती जो हड़ताल से होती है और इसलिए सफल हड़ताल के जो पूर्ण निश्चित परिणाम निकलते हैं वे इस असहयोग के नहीं निकल सकते। पर उसके द्वारा हड़ताल की अपेक्षा कहीं ज्यादा मजबूत और स्थायी एकता उत्पन्न होती है। हड़ताल के दिनों की अस्वाभाविक एकता हड़ताल का उद्देश्य पूरा होते

ही खत्म हो जाती है, किन्तु समान-कार्य की एकता अथवा विचारों की समानता से उत्पन्न एकता टूटने के बजाय बराबर शक्तिशाली होती रहती है और अधिकाधिक लोग उसमें शामिल होते रहते हैं। यदि हड़ताल के खयाल से नहीं, बल्कि जमीन पर व्यक्तिगत स्वामित्व में भाग लेने को पाप समझ कर श्रमजीवी असहयोग करें तो उसका भी वही परिणाम निकलना चाहिए और निकल सकता है। बहुत सम्भव है कि श्रमजीवी भूस्वामियों की मिल्कियत मे सहयोग देने के अन्याय को समझ जायं, फिर भी उनमे से बहुत थोड़े उनकी जमीनों पर मजदूरी करने या उनको लगान पर लेने से इन्कार कर सकें। किन्तु जो ऐसा करेंगे, वे केवल स्थानीय अथवा तात्कालिक कारण से न करेंगे, बल्कि यह समझ कर करेंगे कि क्या उचित है और क्या अनुचित। वह सब लोगों के लिए हर समय कर्तव्य-रूप होगा। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि उनके कथन और आचरण से जो मजदूर जमीन पर व्यक्तिगत मिल्कियत के अन्याय और उससे पैदा होने वाले दुष्परिणामों को समझते जायंगे, उनकी तादाद निरन्तर बढ़ती जायगी।

यह ठीक-ठीक बता सकना असम्भव है कि यदि श्रमजीवी जमीन की व्यक्तिगत मिल्कियत में सहयोग देने को पाप समझने लगें तो उसके फलस्वरूप समाज के संगठन में परिवर्तन हो जायँगे; यह निश्चित है कि परिवर्तन होंगे, और जितनी ही उक्त अनुभूति विस्तृत होगी, उतने ही वे महत्वपूर्ण होंगे। कम-से-कम यह हो सकता है कि कुछ श्रमजीवी भूस्वामियों के लिए काम न करें अथवा उनकी जमीन लगान पर न लें और भूस्वामी यह समझने लगें कि जमीन को अपने अधिकार में रखना लाभदायक नहीं रहा। उस दशा में या तो वे ऐसी व्यवस्था मन्जूर कर सकते हैं जो उन श्रमजीवियों के लिए लाभदायक हो, अथवा वे अपने स्वामित्व को बिल्कुल ही छोड़ दे सकते हैं। अथवा यह भी हो सकता है कि सेना में जो श्रमजीवी हैं, वे जमीन की व्यक्तिगत मिल्कियत के अन्याय

को समझ कर देहात के श्रमजीवी भाइयों को दबाने के कार्य में सहयोग देने से अधिकाधिक इंकार करते जायं और इस प्रकार सरकार भूस्वामियों की जागीरों का बचाव न करने के लिए विवश हो जाय और तमाम ज़मीन आजाद हो जाय। अन्त में यह भी सम्भव है कि सरकार ज़मीन को स्वंतत्र करने की अनिवार्यता को समझ कर श्रमजीवियों की विजय होने के पहले ही एक आज्ञा जारी करके क़ानून द्वारा जमीन की व्यक्तिगत मिल्कियत ख़त्म कर दे। सार यह कि कई तरह के परिवर्तन हो सकते हैं और होंगे और पहले से उनको ठीक-ठीक नहीं बताया जा सकता। किन्तु एक बात निश्चित है और वह यह कि परमात्मा की इच्छा अथवा अपने अन्तःकरण के अनुसार इस सम्बन्ध में जो भी काम सच्चाई के साथ किया जायगा, उसका परिणाम निकले बिना नहीं रहेगा।

जिस समय लोगों के सामने ऐसा कोई काम करने का अवसर आता है जो बहुमत को पसन्द नहीं होता तो बहुधा वे कह देते हैं—"सब लोगों के आगे हम अकेले क्या कर सकते हैं ?" ऐसे लोग समझते हैं कि कोई काम तभी सफल हो सकता है जब सब लोग या कम-से-कम बहुत से लोग उसमें साथ हों, किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि बहुत लोगों की जरूरत तो बुरे काम के लिए पड़ा करती है। सत्कार्य के लिए तो अकेला आदमी भी काफी होता है। कारण, परमात्मा सदा सत्कर्म करने वाले का साथ देता है। और जिसके साथ परमात्मा होगा उसके साथ आगे-पीछे तमाम आदमी हो जायंगे। हर हालत में श्रमजीवियों की स्थिति में सुधार तभी होगा जब वे परमात्मा की इच्छा और अपने अन्तःकरण के अनुसार अधिकाधिक चलेंगे और पहले की अपेक्षा नैतिकता का अधिकाधिक पालन करेंगे।

उत्पादन के समस्त साधनों को समाज की सम्पत्ति बनाने से पहले ही जो शिक्षा मज़दूरों को उन कारखानों का, जहां वे काम करते हैं, मालिक बना देने की आशा दिलाती है, वह न केवल इस स्वर्ण नियम के विरुद्ध है कि हमको दूसरों के साथ वैसा व्यवहार करना चाहिए, जैसा

कि हम चाहते हैं कि दूसरे हमारे साथ करें, बल्कि निश्चित रूप से अनैतिक है।

मजदूरों का सैनिकों की हैसियत से बल-प्रयोग करना, खेत-मजदूरी करना अथवा लगान पर जमीन जोतना और इस प्रकार जमीन की व्यक्तिगत मिल्कियत का समर्थन करना उतना ही उस नियम के विरुद्ध है। क्योंकि जो लोग ऐसा करते हैं, उनकी अवस्था क्षणिक तौर पर भले ही सुधर जाय, किन्तु अन्य श्रमजीवियों की दशा इसके फलस्वरूप और भी ज्यादा खराब हो जाती है।

प्रत्यक्ष बल-प्रयोग, समाजवादी हलचल और अपने लाभ की खातिर व्यक्तिशः भूस्वामित्ववाद का समर्थन—श्रमजीवियों के यह सारे उपाय अभी तक इसलिए सफल नहीं हुए कि वे नैतिक नियम के इस मौलिक तत्व के अनुकूल नही है कि हम दूसरों के साथ वैसा ही बर्ताव करें जैसा हम चाहते है कि दूसरे हमारे साथ करें। मजदूरों को गुलामी से मुक्ति दिलाने के लिए क्रियात्मक प्रयत्न उतना आवश्यक नही है, जितना कि यह जरूरी है कि वे पाप से अलग रहें, सिर्फ इसलिए कि ऐसा करना उचित और नैतिक है; अर्थात् परमात्मा की मर्जी का अनुसरण किया जाय।

ग़रीबी उसी समाज मे कायम रह सकती है, जहाँ लोग पारस्परिक संघर्ष के ज़ंगली कानून का आश्रय लेते हों। किन्तु धर्म प्राण समाज में गरीबी नहीं हो सकती। जब लोग अपने पास जो कुछ है, उसको आपस में बाँट लेंगे तो वह हमेशा सभी की जरूरतों को पूरा करने के लिए काफी होगा और कुछ बच भी रहेगा। एक समय का जिक्र है कि जब ईसामसीह उपदेश दे रहे थे तो श्रोताओं को भूख लग आई। ईसा मसीह को मालूम हुआ कि कुछ लोगों के पास खाने का सामान मौजूद है। उन्होंने सब श्रोताओं को गोलाकार बनाकर बैठ जाने का आदेश दिया और जिनके पास खाद्य सामग्री थी उनको कहा कि वे एक सिरे से उसे अपने पड़ोसियों की तरफ बढ़ाना शुरू करें और इस प्रकार जब एक

का पेट भर जाय तो वह बची हुई सामग्री अपने पड़ोसी की तरफ़ बढ़ा दें। इस प्रकार जब वह चक्कर पूरा हुआ तो न केवल सबका पेट भर गया, बल्कि बहुत सारी सामग्री बच रही।

मानव-समाज में जब मनुष्य ऐसा करेंगे तो गरीबी भाग जायगी और उसमे रहने वाले मनुष्यों को भूस्वामियों की जमीन किराये पर लेने अथवा उनकी मज़दूरी करने की जरूरत न पड़ेगी। यह कोई कारण नही हो सकता कि चूंकि हम ग़रीब हैं, इसलिए हम ऐसा कोई काम करे जो हमारे दूसरे भाइयों के लिए हानिकर हो।

यदि इस समय श्रमजीवी भूस्वामियों की मज़दूरी करते हैं या उनकी ज़मीन लगान पर लेते हैं तो कारण यह है कि वे अभी इसको पाप नहीं समझते और न यह समझते हैं कि इस प्रकार वे खुद अपना और अपने भाइयों का कितना बड़ा नुकसान करते हैं। लोगों को ज्यों-ज्यों पता चलेगा कि ज़मीन की व्यक्तिगत मिल्कियत के साथ सहयोग करने के क्या परिणाम होते हैं और वे इसको जितनी अच्छी तरह समझेंगे त्यों-त्यों स्वभावतः श्रम न करने वालों का दबाव श्रमजीवियों पर कम होता जायगा।

श्रमजीवियों की दशा सुधारने का एक मात्र निर्विवाद उपाय यह है कि ज़मीन को भूस्वामियों के कब्जे से छुड़वाया जाय, और यह उपाय परमात्मा की मर्जी के अनुकूल है। यदि श्रमजीवी उनको दबाने वाली शक्ति को सहयोग न दें और न भूस्वामियों की मजदूरी करें और उनकी ज़मीन लगान पर न लें तो ज़मीन मुक्त हो सकती है। श्रमजीवियों को यह जानना चाहिए कि भूस्वामियों के कब्जे से ज़मीन को छुड़वाना उनके हित के लिए ज़रूरी है और यह तभी सम्भव हो सकता है जब वे अपने भाइयों के प्रति हिंसा करना, भूस्वामियों की मज़दूरी करना और उनकी ज़मीन लगान पर लेना बन्द करदें। इसके अलावा श्रमजीवियों को पहले से यह भी जान लेना चाहिए कि जब ज़मीन भूस्वामियों के अधिकार से मुक्त हो जायगी तो वे उसकी व्यवस्था किस प्रकार करेंगे; श्रमजीवियों

में उसको किस प्रकार बाँटेंगे।

बहुत से लोग समझते हैं कि एक बार जमीन श्रम न करने वालों के हाथों से छुड़वा लेने के बाद सारा मामला ठीक हो जायगा। किन्तु यह ठीक नहीं है। यह कहना सरल है कि श्रम न करने वालों से जमीन ले ली जाय और श्रमजीवियों को दे दी जाय। किन्तु यह किस प्रकार किया जाय कि अन्याय न हो, और धनवानों को बड़ी-बड़ी जागीरें खरीद कर मजदूरों को गुलाम बनाने का मौका न मिले।

हम मे से कुछ का खयाल है कि मजदूरो अथवा जन-समुदायों को अपनी इच्छानुसार चाहे जहां जमीन जोतने और बोने का अधिकार होना चाहिए। पुराने जमाने मे ऐसा ही होता था। किन्तु यह वही सम्भव हो सकता है जहाँ आबादी कम हो; जमीन की बाहुल्यता हो और वह एक ही किस्म की हो। पर जहाँ आबादी इतनी अधिक हो कि जमीन से उसका भरण-पोषण न हो सके और जहाँ जमीन कई किस्मो की हो, वहाँ जमीन के बँटवारे का दूसरा तरीका ढूंढना होगा। क्या आदमियों की तादाद के हिसाब से उसको बांटा जाय ? किन्तु ऐसा करने से जमीन उनको भी मिल जायेगी, जो खेती करना नही जानते और ये श्रम करने वाले लोग उसको धनवानों के हाथ रहन रख देंगे या बेच देंगे और फिर ऐसे लोगों का एक वर्ग पैदा हो जायगा जो श्रम तो करेगा नहीं और बड़ी बड़ी जागीरों का मालिक बन जायगा। तो क्या श्रम न करने वालों को जमीन बेचने अथवा रहन रखने से रोक दिया जाय ? उस अवस्था मे उन लोगों की जमीन जो उसे जोतना नहीं चाहते या जोत नहीं सकते, बेकार पड़ी रहेगी। इसके अलावा मनुष्यों की तादाद के हिसाब से जमीन का बँटवारा करने से विभिन्न किस्म की जमीन किस प्रकार बराबर बँट सकेगी ! उपजाऊ, बंजर, रेतीली और दलदल वाली सभी प्रकार की जमीन होती है। शहरों की जमीन का सैकड़ों रुपया बीघा पैदा होता है और दूर देहातों की जमीन से कुछ आमदनी नहीं होती। तो जमीन किस प्रकार बाँटी जाय कि वह श्रम न करने वालों के कब्जे में

पुनः न जा सके तथा किसी के भी हितों को नुकसान न पहुँचे और नहीं किसी प्रकार के मतभेद और झगड़े उठ खड़े हों। इस समस्या को हल करने के लिए अनेक लोगों ने अपना दिमाग खपाया है और श्रमजीवियों में जमीन को बाँटने की अनेक योजनायें तैयार की गई हैं।

समाज-संगठन की कथित साम्यवादी योजनाओं के अलावा, जिनके अनुसार जमीन सार्वजनिक सम्पत्ति समझी जाती है और खेती सम्मिलित रूप से की जाती है मेरी जानकारी में निम्न योजनायें और हैं:—

एक योजना स्काटलैंड के रहने वाले विलियम ओगिलवी की है। वह १८-वी शताब्दी में हुआ था। ओगिलवी का कथन है कि प्रत्येक मनुष्य जमीन पर पैदा हुआ है और इसलिए उसका यह निर्विवाद अधिकार है कि उस पर वह रहे और उसकी पैदावार से अपना भरण-पोषण करे। थोड़े से लोग ज़मीन के बड़े-बड़े टुकड़ों को व्यक्तिगत संपत्ति बनाकर इस अधिकार को मर्यादित नहीं कर सकते और इसलिए हर मनुष्य का अपने हिस्से की जमीन पर अबाधित अधिकार होना चाहिए। और यदि किसी के कब्जे में उसके हिस्से से अधिक जमीन है और उससे वह लाभ उठाता है और उस अतिरिक्त ज़मीन के असली मालिक कोई उज्र पेश नही करते तो उसको इस अतिरक्त ज़मीन के उपयोग के लिए राज्य को टैक्स अदा करना चाहिए।

थामस स्पेन्स नामक एक दूसरे अंग्रेज ने कुछ अर्से पीछे ज़मीन की समस्या को इस प्रकार हल किया कि तमाम ज़मीन को जिलों की सम्पत्ति बना दिया जाय ओर ये जिले अपनी इच्छानुसार उसका बंटवारा कर दें। इस प्रकार ज़मीन की व्यक्तिगत मिल्कियत को उसने सर्वथा निषिद्ध करार दिया। मि. स्पेन्स ने इस सम्बन्ध में सन् १७८८ की एक घटना का जिक्र किया है जो उसके दृष्टिकोण का बड़ा उत्तम उदाहरण है। वह लिखता है—"मै जंगल में अखरोट बीन रहा था कि जंगलात अफसर आया ओर पूछने लगा कि मैं क्या कर रहा हूँ? मैंने जवाब दिया कि मैं अखरोट बीन रहा हूँ।"

इस पर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ और वह कहने लगा कि ऐसा करने और कहने का तुम्हें साहस क्योंकर हुआ ? मैंने कहा—"मैं ऐसा क्यों न करूँ ? यदि किसी बन्दर या गिलहरी ने अखरोट खाये होते तो तुमने एतराज किया होता ? तो क्या मै उन जानवरों से भी गया-बीता हूँ अथवा मेरा कम अधिकार है ? लेकिन तुम हो कौन, जो इस प्रकार मेरे काम में बाधा डाल रहे हो ?"

उसने कहा—"मै तुन्हें यह उस समय बताऊगा, जब तुम दूसरों की सीमा मे अनधिकार दाखिल होने के जुर्म में पकड़े जाओगे ।"

मैंने कहा—"ठीक है, किन्तु जिस जगह किमी आदमी ने न पेड़ लगाये और न जमीन को जोता-बोया, उसमे आना अनधिकार-प्रवेश कैसे हो सकता है ? यह अखरोट प्रकृति ने अपने आप पैदा किये है, मनुष्यों और जानवरों–दोनों के पोषण के लिए बनाये गए हैं और इसलिए वे सब की सम्पत्ति हैं।

उसने कहा—"मै तुमसे कहता हूं कि यह जंगल सार्वजनिक नहीं है। यह पोर्टलैण्ड के उमराव की जागीर है ।"

मैने कहा—"अच्छा ! उमराव महोदय को मेरा सलाम ! पर प्रकृति मुझमे और उनमें कोई भेद नही करती । प्रकृति के दरबार में तो यह नियम है कि जो पहले आवे सो पहले पावे । इसलिए यदि उमराव महोदय को अखरोट चाहिए तो उन्हें आगे से जरा जल्दी आना चाहिए ।"

अन्त में स्पेन्स ने कहा है कि जिस देश में उसको अखरोट बीनने का अधिकार न हो, यदि उस देश की रक्षा करने के लिए मुझसे कहा जाय तो मैं बन्दूक फेंक दूंगा और कहूंगा कि पोर्टलैण्ड के उमराव और उनके जैसे लोग ही उसके लिए लड़ें जो देश के मालिक होने का दावा करते है ।

'विवेक का युग' (The Age of Reason) और 'मनुष्य के अधिकार' (The Rights of man) नामक पुस्तकों के सुप्रसिद्ध लेखक थामस पेन ने भी इसी प्रकार इस समस्या को हल किया है।

उनकी योजना की विशेषता यह है कि उन्होंने भूमि पर व्यक्तिगत मिल्कियत का अन्त करने के लिए उत्तराधिकार की प्रथा को मिटा देने का प्रस्ताव किया है ताकि एक मालिक के मरने के बाद उसकी जमीन सार्वजनिक संपत्ति हो जाय।

थामस पेन के बाद गत शताब्दि मे पेट्रिक एडवर्ड डव ने इस बारे मे विचार किया और लिखा। उसकी योजना यह थी कि जमीन का मूल्य दो प्रकार से बढता है—एक तो जमीन की खुद हैसियत होती है और दूसरे उस पर श्रम किया जाता है। श्रम के फलस्वरूप जमीन की जो कीमत बनती है, उस पर व्यक्तियों का अधिकार हो सकता है। इसके विपरीत जमीन की स्वत: जो क़ीमत होती है, वह तमाम राष्ट्र की सपत्ति समझी जानी चाहिए और इसलिए उस पर आज-कल की तरह व्यक्तियों का अधिकार नही हो सकता। वह तो सारे राष्ट्र की सपत्ति होनी चाहिए।

इससे मिलती-जुलती योजना जापान की भूमि-उद्धारक सस्था की है। उसका सार यह है कि प्रत्येक मनुष्य का अपने हिस्से की जमीन पर अधिकार होना चाहिए, बशर्ते कि वह उसके लिए एक निश्चित टैक्स देता हो और इसलिए वह अपने हिस्से से अधिक जमीन अपने अधिकार में रखने वालों से माग कर सकता है कि उसको अपने हिस्से की जमीन सौपी जाय।

किन्तु व्यक्तिश: मैं हेनरी जार्ज की योजना को अन्य सब योजनाओं से अधिक न्यायपूर्ण, लाभकारी और व्यावहारिक समझता हूं। सक्षेप में इस योजना को यों प्रकट किया जा सकता है। कल्पना करो कि अमुक प्रदेश में तमाम जमीन दो भू-स्वामियों के अधिकार मे है। उनमे से एक धनवान है और विदेशों में रहता है और दूसरा ग़रीब है और घर पर रह कर खेती-बाड़ी करता है। और सौ किसान ऐसे है जिनके हिस्से मे थोड़ी-थोड़ी जमीन आई है। इसके अलावा इस प्रदेश मे मजदूरी करने वाले लोग और कारीगर, व्यापारी, राज्य-कर्मचारी आदि सैकड़ों लोग ऐसे रहते हैं, जिनके पास कोई जमीन नही है। कल्पना करो कि इस

प्रदेश के तमाम लोग फैसला करते हैं कि जमीन सार्वजनिक सम्पत्ति होनी चाहिए। उस दशा मे उसका बंटवारा कैसे करेंगे ?

जिनके अधिकार में जमीन है, उनसे जमीन लेकर हरेक को अपनी मर्जी के मुताबिक जमीन का उपयोग करने देना व्यावहारिक न होगा, क्योकि उस दशा में एक ही जमीन को कई लोग एक साथ लेना चाहेंगे और फलस्वरूप आपस के अन्य झगड़े उठ खड़े होंगे। सब लोग मिलकर खेती करे और बाद मे पैदावार का बटवारा कर लें, यह सुविधाजनक न होगा, क्योंकि कुछ के पास हल, बैल, गाड़े आदि होंगे और कुछ बिल्कुल कोरे होंगे। इसके अलावा कुछ लोगों को खेती का अनुभव और ज्ञान भी न होगा। मनुष्यों की संख्या के अनुसार बराबर जमीन को बाँटना बहुत कठिन होगा। यदि जमीन को इस प्रकार बाँटा जाय कि अच्छी, साधारण और बंजर भूमि बराबर हिस्सों में हरेक को मिल जाय तो जमीन के बहुत छोटे-छोटे टुकड़े हो जायँगे।

इसके अलावा इस प्रकार का बँटवारा खतरे से खाली न होगा। कारण, जो काम न करना चाहेंगे या अत्यधिक गरीब होंगे, रुपये की खातिर अपनी जमीन धनवानों के हाथ बेच देगे और फिर बड़े-बड़े जमीदार और ताल्लुकेदार पैदा हो जायँगे। इसलिए इस प्रदेश के लोग निर्णय करते है कि जमीन को उन्ही लोगों के अधिकार में रहने दिया जाय जिनके अधिकार में वह चली आ रही है और यह तय किया जाय कि भूस्वामी राष्ट्रीय कोष में एक निश्चित रकम दिया करें जो उस जमीन की आमदनी के अनुसार हो। यह रकम जमीन पर की गई मेहनत के अनुसार नही, बल्कि जमीन की अपनी हैसियत के अनुसार निर्धारित की जाय। इस प्रकार जो आमदनी होती है, इसको वे आपस में बांट लेते है।

किन्तु भूस्वामियों से इस प्रकार रुपया इकट्ठा करना और उसको सब लोगों में बराबर बांटना पेचीदा काम है। फिर सब लोग सार्वजनिक आवश्यकताओं अर्थात स्कूलों, मन्दिरों, आग बुझाने के इंजिनों, ग्वालों,

सड़कों की मरम्मत आदि के लिए टैक्स देते हे और यह रुपया सार्व-जनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए काफी नही होता, इसलिए इस प्रदेश के निवासियों ने फैसला किया कि जमीन की आमदनी का रुपया इकट्ठा करने और उसको बराबर बाँटने के बजाय तथा फिर उसका कुछ हिस्सा टैक्सों के रूप में वसूल करने के बजाय जमीन की आमदनी सार्व-जनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए खर्च की जाय । यह व्यवस्था करने के बाद उस प्रदेश के लोग अधिक भूमि रखने वालों से अधिक और कम भूमि रखने वालों से कम पैसा मांगते हे और कुछ लोग जिनके पास कुछ जमीन नहीं है, कुछ नही मांगते । और उन्हें उन सुविधाओं का लाभ उठाने देते है जो जमीन के लगान की रकम से सुलभ की गई है ।

इस व्यवस्था का यह नतीजा होता है कि जो भूस्वामी अपनी जमीन पर नही रहता और उससे बहुत थोड़ा पैदा करता है, जमीन को अपने कब्जे में रखना लाभदायक नही समझता और उससे स्तीफ़ा दे देता है । इसके विपरीत दूसरा भूस्वामी, जो अच्छा किसान भी है, अपनी जमीन का कुछ हिस्सा छोड़ता है और अपने पास उतनी ही जमीन रखता है जितनों से वह टैक्स की रकम से कुछ अधिक पैदा कर सके ।

जिन किसानों के पास थोड़ी जमीन है, जिनके पास काम करने वाले ज्यादा और जमीन कम है और जिनके पास जमीन नही है, पर जो खेती बाड़ी द्वारा अपना भरण-पोषण करना चाहते हे, वे सब भू-स्वामियों द्वारा छोड़ी हुई जमीन ले लेते हैं । इस प्रकार इस योजना के अनुसार इस प्रदेश के तमाम लोगों को जमीन पर रहने और उससे भरण पोषण प्राप्त करने का अवसर मिल जाता है और तमाम जमीन उन लोगों के अधिकार में चली जाती है जो खेती करना पसन्द करते हैं और उसके द्वारा अधिक उत्पादन कर सकते हैं । इसके अलावा सार्वजनिक संस्थाओं की अवस्था सुधर जाती है, कारण सार्वजनिक आवश्यकताओं के लिए पहले से अधिक रुपया मिलने लगता है । और सबसे बड़ी बात

यह होती है कि भूमि-अधिकार सम्बन्धी यह परिवर्तन बिना किसी लड़ाई झगड़े और खून खराबी के हो जाता है; जमीन को वे लोग स्वतः छोड़ देते है जो उसको मुनाफे के साथ जोत-बो नही सकते। यह है हेनरी जार्ज की योजना, जिसको विभिन्न देश अथवा सारी दुनियाँ अपना सकती है।

अब मैं सक्षेप में अपने कथन को दुहराता हूँ। मेरी श्रमजीवियों को सलाह है कि तुम पहले अपनी आवश्यकता को साफ-साफ समझो और जिसकी तुमको आवश्यकता नही है, उसके लिए परेशानी मत उठाओ। तुमको एक ही चीज की आवश्यकता है और वह है स्वतन्त्र जमीन जिस पर तुम रह सको और अपना भरण-पोषण कर सको।

दूसरे, मेरी सलाह यह है कि तुम साफ-साफ समझ लो कि किन साधनों से तुमको अपनी जमीन की ज़रूरत पूरी करनी है। दंगा-फसाद करके, परमात्मा तुमको उससे बचाए—प्रदर्शन कर के, हड़ताल करके, धारा-सभाओं मे समाजवादी प्रतिनिधि भेज करके तुम अपना उद्देश्य सिद्ध नही कर सकते। वह तभी सफल होगा, जब तुम, जिसको बुरा कार्य समझते हो, उसमें सहयोग न दो; अर्थात तुम हिंसा मे सहयोग देकर या भूस्वामियों के खेतों पर मजदूरी कर के या उनके खेत लगान पर लेकर ज़मीन की व्यक्तिगत मिल्कियत के अन्याय का समर्थन न करो।

तीसरी सलाह मेरी यह है कि तुम पहले मे ही सोच लो कि जब जमीन स्वतंत्र होगी तो तुम उसको किस प्रकार बाटोगे। इस पर ठीक-ठीक बिचार करने के लिए तुम को यह न समझना चाहिए कि जिस ज़मीन को भूस्वामी छोड़ेगे, वह तुम्हारी हो जायगी। तुमको तो यह समझ लेना है कि जमीन का उपयोग तभी न्यायपूर्ण हो सकता है और वह सब मनुष्यों मे निष्पक्ष रीति से बांटी जा सकती है जब जमीन पर किसी एक व्यक्ति का अधिकार न स्वीकार किया जाय, चाहे वह एक गज टुकड़ा ही क्यों न हो। सूरज की गरमी और हवा की भांति जमीन को भी सब मनुष्यों की सम्पत्ति मानने के बाद ही तुम बिना किसी भेद-भाव के न्याय-पूर्वक जमीन को विद्यमान योजनाओं अथवा किसी नई

योजना के अनुसार सब लोगों में बांट सकोगे।

चौथी बात सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। मेरी तुमको सलाह है कि अपनी जरूरतों को पूरी करने के लिए दंगों, क्रान्तियों और समाजवादी हलचलों द्वारा शासक वर्ग से लड़ाई मत ठानो, बल्कि अपने जीवन को सुधारो। लोगो की हालत इसलिए बुरी है कि वे बुरी तरह जीवन बिताते हैं। और मनुष्यों के लिए इससे बढ़कर हानिकर और कोई विचार नहीं हो सकता कि उनकी दुरवस्था के कारण वे खुद नहीं हैं, बल्कि बाहरी परिस्थितियां हैं। यदि मनुष्य अथवा मनुष्य समाज यह समझता है कि बाह्य परिस्थितियां उसके कष्टों के लिए जिम्मेदार है और उन परिस्थितियों को बदलने की चेष्टा करता है तो उसके कष्टों मे और वृद्धि ही होती है। किन्तु यदि वह अपने अन्तर की ओर मुड़ता है और अपने कष्टों के कारणों को अपने और अपने जीवन के भीतर खोजता है तो शीघ्र इन कारणों का पता लग जायगा और वे स्वयंमेव मिट जायंगे।

"पहले तू ईश्वर के राज्य और सत्य की खोज कर; शेष सब अपने आप हो जायगा।" (बाइबिल) यह मानव जीवन का मूल नियम है। बुरा जीवन बिताओ, ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध, और तुम हजार कोशिश करो अपनी अवस्था सुधारने की; कोई नतीजा नहीं निकलेगा। सद् जीवन बिताओ, नैतिकता का खयाल रक्खो और ईश्वर की इच्छा का अनुसरण करो और सुख की कोई चिन्ता न करो; वह तुमको अपने-आप प्राप्त हो जायगा और यह इस तरह होगा कि जिसकी तुमने कल्पना भी न की होगी। यह बड़ा स्वाभाविक और आसान मालूम पड़ता है कि हम दर्वाजे को तोड़कर भीतर घुस जाँय, जिसके भीतर हमारे मन का स्वर्ग बसा है। यह इसलिए भी हमको आवश्यक मालूम होता है कि हमारे पीछे लोगों की भीड़ जमा है जो हमको दबाये जा रही है और दर्वाजे की ओर धकेल रही है। किन्तु दर्वाजे को तोड़ने की हम जितनी ही कोशिश करते हैं, उतना ही हमारे लिए उसके भीतर घुसना कठिन होता जाता है। दर्वाजे के द्वार सामने नहीं, हमारी अपनी ओर हैं।

अत. सुख की खोज मे मनुष्य को बाहरी परिस्थियों को सुधारने की चिन्ता न करके खुद को सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि वह बुराई कर रहा है तो उसे उससे विरत होना चाहिए और यदि वह भलाई नही कर रहा तो उसे करना शुरू कर देना चाहिए। सच्चे सुख के तमाम दर्वाजे हमेशा मनुष्य के अन्तर की ओर ही खुला करते हैं।

यदि तुम यह समझ लेते हो कि तुम्हारी वास्तविक भलाई के लिए तुम को ईश्वरीय नियम के अनुसार आचरण करना है, भाई-चारे का जीवन बिताना है, दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करना है जैसा तुम अपने साथ चाहते हो—और जिस अश मे तुम इस तथ्य को समझोगे और समझने के बाद उस पर आचरण करोगे, उसी अश मे तुमको वह सुख प्राप्त होगा, जिसकी तुम कामना करते हो और तुम्हारी गुलामी का खातमा हो जायगा।

"तुम सत्य को पहचानो और वही तुमको मुक्ति देगा।"

: ७ :

उद्धार का उपाय

दूसरों से जिस व्यवहार की आशा रखते हो, वही तुम उनके साथ भी करो, क्योकि कानून और ईश्वर का यही आदेश है।

—बाइबिल

"आत्मनः प्रतिकूलानि न परेषा समाचरेत्।"

दुनिया में श्रमजीवियों की सख्या एक अरब से भी अधिक है। खाने-पीने की तमाम सामग्री और संसार की समस्त चीजें, जिनपर मनुष्यों का जीवन निर्भर है और जिनसे लोग अमीर बने हुए हैं, श्रमजीवी पैदा करते हैं। किन्तु वे जो कुछ पैदा करते हैं उसका लाभ वे स्वयं नही उठाते, राज्यकर्त्ता और धनवान उसका फायदा उठाते हैं। इसके विपरीत श्रमजीवी हमेशा गरीबी, अज्ञान और गलामी के शिकार बने रहते हैं। और उनको उन्हीं लोगों के हाथों अनादर सहन करना पड़ता है, जिनके

लिए वे भोजन,वस्त्र और अन्य सुख-साधन सुलभ करते हैं।

जमीन श्रमजीवियों के हाथ से छीनकर उन लोगों की सम्पत्ति मानी जाती है जो उस पर श्रम नही करते। इसका नतीजा यह होता है कि खेती करने वालों को अपना पेट भरने के लिए जमीन के कथित मालिकों की हर आज्ञा का पालन करना पड़ता है। यदि श्रमजीवी जमीन को छोड़कर नौकरी करता है या किसी मिल अथवा कारखाने मे काम करने लगता है तो वह अन्य धनवानों का गुलाम बन जाता है। उसको ज़िन्दगी भर दस,बारह, चौदह अथवा इससे भी अधिक घंटे प्रतिदिन काम करना पड़ता है। यह काम उसके लिए अपरिचित, नीरस, कठोर और बहुधा स्वास्थ्य और जीवन के लिए हानिकर होता है। यदि उसको खेती करने की सुविधा मिल जाती है अथवा पेट भरने लायक काम मिल जाता है तो उसको टैक्स देने पड़ते हैं। इसके अलावा कुछ देशों में उसको या तो तीन-चार या पाँच साल तक फौज में नौकरी करनी पड़ती है या फौज के खर्च के लिए टैक्स देने पड़ते है। यदि वह बिना कर दिये जमीन को उपयोग में लाने की कोशिश करें, हड़ताल करे, या दूसरे श्रमजीवियों को अपने स्थान पर काम करने से रोके; या टैक्स देने से इन्कार करे तो उसे राज्य की सारी ताकत का सामना करना पड़ता है। वह घायल होता है, मारा जाता है और पहिले की भाँति काम करने और टैक्स देने के किए विवश होता है।

इस प्रकार दुनियां में सर्वत्र श्रमजीवी मनुष्यों का सा नहीं बल्कि बोझा ढोने वाले पशुओं का-सा जीवन व्यतीत करते हैं। उनको जीवन भर वह काम करना पड़ता है, जिसकी उनको नहीं, बल्कि उनके उत्पीड़कों को आवश्यकता होती है और बदले में उनको इतना भोजन वस्त्र मिल जाता है कि वे अनवरत काम करते रहें। इसके विपरीत श्रमजीवियो पर शासन करने वालों का एक अल्प समुदाय, जो उनके उत्पादन से लाभ उठाता है, आलस्य और भोग-विलास का जीवन बिताता है और करोड़ों के परिश्रम को बेकार और अनीतिपूर्वक बर्बाद करता है।

मास्को में द्वितीय निकोलस के राज्याभिषेक के समय लोगों को शराब और लड्डू बांटे गए। जहां ये चीजें बांटी जा रही थी, लोगों की जबर्दस्त भीड़ जमा हो गई। पीछे वालों ने आगे वालों को और उनसे पीछे वालों ने उनको धक्का देना और कुचलना शुरू किया। किसीने यह नहीं देखा कि आगे क्या हो रहा है। बलवानों ने कमजोरों को एक ओर धकेल दिया और बलवान भी भीड़ की गर्मी और वायु की कमी के मारे दम घुट कर जमीन पर गिर पड़े और पीछे वालों द्वारा कुचल दिए गए, क्योंकि उनको भी उनसे पीछे वाले धकेल रहे थे और वे रुक नही सकते थे। इस प्रकार कई हजार आदमी, जिनमें बूढ़े और जवान, स्त्री और पुरुष सभी थे, मौत के ग्रास बन गए।

जब यह सारा काण्ड समाप्त हो गया तो लोग दलील करने लगे कि उसके लिए दोषी कौन? कुछ ने पुलिस को दोषी बताया और कुछ ने ज़ार को अपराधी बताया, जिसने ऐसे मूर्खता-पूर्ण भोजन का आयोजन किया। किन्तु सच बात यह है कि दोष स्वयं उन लोगों का था जो दो-चार लड्डुओं और शराब की एक-एक बोतल अपने पड़ोसियों से पहले पाने की खातिर दूसरे लोगों का जरा भी ख़याल किये बिना आगे झपट पड़े और धक्का मुक्की करके उन्हें कुचल डाला।

श्रमजीवी जगत में भी क्या ठीक यही बात नही हो रही है? वे शक्तिहीन-पद्दलित, और गुलाम सिर्फ इसलिए हो रहे हैं कि नगण्य के लिए वे अपने और अपने भाइयों का जीवन बर्बाद कर देते है।

श्रमजीवी भूस्वामियों, शासकों और कारखानों के मालिकों की शिकायत करते हैं। किन्तु भूस्वामियों के द्वारा जमीन का शोषण, शासकों द्वारा टैक्सों की वसूली; कारखानों के मालिकों द्वारा श्रमजीवियों का शोषण और फौजों द्वारा हड़तालों का दमन तभी सम्भव होता है जब श्रमजीवी स्वयं उन सबको मदद पहुँचाते है और जिन बातों की वे शिकायत करते हें उनको वे स्वयं करते हैं। यदि कोई भू-स्वामी खुद खेती न करके हजारों एकड़ जमीन से लाभ उठाता है तो इसका कारण यही है कि श्रमजीवी

अपने ही लाभ की खातिर उस भू-स्वामी का काम करते हैं, उसके पहरे-दार, क्लर्क और प्रबन्धक बनते है । इसी प्रकार राज-तन्त्र उनसे टैक्स तभी वसूल कर पाता है जब वे तनख्वाहों के लोभ मे आकर, जिनकी रकम उनके पास से ही जमा होती है, पटेल, पटवारी, पुलिस के सिपाही आबकारी और कस्टम के कर्मचारी बनते हैं और इस प्रकार वही काम करने में मदद देते हैं, जिसकी उन्हें शिकायत होती है । श्रमजीवी इस बात की भी शिकायत करते हैं कि कारखानों के मालिक उनकी मजदूरी कम कर देते है और उन्हें ज्यादा से ज्यादा घण्टे काम करने के लिए मजबूर करते हैं, किन्तु यह भी तभी सम्भव होता है जब श्रमजीवी आपस में प्रतिस्पर्द्धा कर के खुद ही अपनी मजदूरी घटा लेते हैं और गोदाम रक्षक, निरीक्षक, पहरेदार और मुख्य कर्मचारी की हैसियत से कारखनों के मालिकों के नौकर बन जाते हैं । वे अपने मालिकों के लाभ के लिए अपने साथियों को हर तरह सताते हैं, उनकी तलाशियाँ लेते है, उनपर जुर्माना करते हैं ।

श्रमजीवियों की शिकायत है कि यदि वे उस जमीन पर जो खुद उनकी है कब्जा करने की कोशिश करते हैं, या वे टैक्स नहीं देते या हड़तालें करते हैं तो उनके विरुद्ध फौजें भेजदी जाती हैं । किन्तु इन फौजों में सैनिक वही श्रमजीवी होते हैं जो व्यक्तिगत लाभकी खातिर या दण्ड के भय से सेना में भर्ती होते है और अपने अन्तःकरण और ईश्वरीय नियम के विपरीत यह शपथ लेते हैं कि वे उन सबको मारेंगे, जिनको मारने की उन्हें आज्ञा दी जायगी ।

इस प्रकार अपनी सारी मुसीबतों के लिए श्रमजीवी स्वयं ही जिम्मेदार है । जरूरत सिर्फ इस बात की है कि वे अपने उत्पीड़कों की सहायता करना बन्द करदें और उनके तमाम कष्ट स्वयंमेव समाप्त हो जायेंगे ।

तब वे ऐसे काम क्यों करते हैं, जो उनको बर्बाद कर देते है ?

दो हजार वर्ष पूर्व एक महापुरुष ने लोगों को ईश्वरीय नियम का उपदेश दिया था कि—"मनुष्य को दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार

करना चाहिए, जैसा कि वह चाहता है कि दूसरे उसके साथ करे।"
इसको हम सम-आचरण का नियम भी कह सकते हैं। चीनी महापुरुष
कन्फ्यूशस ने इसी नियम को यों कहा है—'दूसरों के साथ वह व्यवहार
न करो जो तुम नही चाहते कि दूसरे लोग तुम्हारे साथ करें।

यह नियम सरल और हरएक मनुष्य की समझ में आने योग्य है
और स्पष्टतः उसके द्वारा मनुष्य का सबसे अधिक हित हो सकता है।
और इसलिए इस नियम का ज्ञान होते ही मनुष्यों को यथासम्भव तुरन्त
उस पर अमल शुरू कर देना चाहिए और भावी पीढ़ी को उसकी शिक्षा देने
और उसका पालन करवाने में अपनी समस्त शक्ति खर्च कर देनी चाहिए।

मनुष्यों को बहुत पहले से इस नियम का पालन शुरू कर देना
चाहिए था। कारण, कन्फ्यूशस और बुद्ध, यहूदी धर्माचार्य हिलेल और
ईसाने प्रायः एक ही समय मे इसका उपदेश दिया था। खास कर ईसाई
जगत के लिए तो इसका पालन करना आवश्यक था, क्योंकि वह बाइबिल
को अपना धर्म ग्रन्थ स्वीकार करता है जिसमें कहा गया है कि यह
नियम सब नियमों का सार है, अर्थात् उसमें वह सब शिक्षा भरी पड़ी है
जो मनुष्य के लिए आवश्यक हो सकती है।

किन्तु हजारों वर्ष बीत जाने पर भी मनुष्यों ने न तो स्वयं इस
नियम का पालन किया और न अपनी सन्तान को उसकी शिक्षा दी।
अधिकतर मनुष्य तो इस नियम को जानते ही नहीं, और यदि जानते भी
हैं तो उसको अनावश्यक और अव्यावहारिक समझते हैं।

शुरू में यह बात अजीब-सी मालूम देती है। किन्तु जब हम इस
बात पर विचार करते हैं कि इस नियम का पता लगाने के पहले लोग
किस प्रकार रहते थे और उस दशा में वे कितने अर्से तक रहे और यह
नियम आधुनिक मनुष्य जीवन से कितना भिन्न है, तो हम यह समझने
लगते हैं कि इस नियम का पालन क्यों नहीं हुआ।

बात यह हुई कि मनुष्यों को इस नियम का पता न था कि सब
लोगों के कल्याण के लिए हरेक आदमी को दूसरों के साथ वैसा ही

व्यवहार करना चाहिए, जैसा वह दूसरों से अपेक्षा रखता है और इस लिए हरेक आदमी ने अपने लाभ की खातिर दूसरे मनुष्यों पर अधिक से अधिक सत्ता प्राप्त करने की कोशिश की और यह सत्ता प्राप्त करने के बाद बिना किसी रोक-टोक के उससे लाभ उठाने के लिए उसको अपने से अधिक बलवानों के अधीन हो जाना पड़ा और उनकी सहायता करनी पड़ी। इसी प्रकार इन बलवान व्यक्तियों को अपने से अधिक बलवान व्यक्तियों की शरण में जाना पड़ा।

इस प्रकार जो समाज सम-आचरण के इस नियम से परिचित नही होता, अर्थात् दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करना, जैसा कि हम चाहते हैं कि दूसरे लोग हमारे साथ करें, उसमे हमेशा मुट्ठी भर लोग बाकी आदमियों पर शासन किया करते है। और इस लिए यह समझ में आ जाता है कि जब मनुष्यों को इस नियम का ज्ञान कराया गया तो वे मुट्ठी भर लोग, जो शेष समाज पर अधिकारारूढ थे न केवल स्वयं इस नियम को मानने को तैयार नही हुए बल्कि उनको यह भी गवारा न हुआ कि उनके अधीनस्थ इस नियम को जानें और उस पर अमल करे।

अधिकारारूढ मुट्ठी भर लोग जानते थे और अच्छी तरह जानते हैं कि उनकी सत्ता का आधार ही इस बात पर है कि उनके अधीनस्थ लोग निरन्तर आपस में लड़ते रहें और एक दूसरे को गुलाम बनाने की कोशिश करते रहें। और इसलिए उन्होंने हमेशा इस बात का प्रयत्न किया कि अधीनस्थ लोगों को इस नियम का पता न चले और अब भी उनकी यही कोशिश रहती है। वे इस नियम को अस्वीकार नही करते, क्योंकि वह इतना स्पष्ट और सरल है कि उससे इनकार नहीं किया जा सकता। किंतु वे अन्य सैंकड़ों नियमों को सामने रखते हैं और कहते हैं कि ये नियम सम-आचरण के नियम से अधिक महत्वपूर्ण और माननीय हैं। इस प्रकार वे इस नियम पर पर्दा डालते है। धर्माचार्य धर्म का नाम लेकर सैकड़ों प्रकार के विधान करते है जिनका सम-आचरण के इस नियम से कोई मेल नहीं बैठता। उनको वे सबसे अधिक महत्वपूर्ण ईश्वरीय नियम बताते

हैं और कहते हैं कि यदि उनका पालन न किया गया तो अनन्त काल तक नरक भोगना पड़ेगा। शासक लोग धर्माचार्यों की शिक्षा का उपयोग करते हैं। उसके आधार पर राजकीय नियमों का निर्माण करते हैं जो सम-आचरण के नियम के सर्वथा प्रतिकूल होते हैं। वे इन नियमों का डण्डे के जोर से पालन करवाते हैं।

इसके बाद पढ़े-लिखों और धनवानों की एक श्रेणी होती है। इस श्रेणी के लोग न ईश्वर को मानते हैं और न किसी ईश्वरीय नियम को। वे कहते हैं कि संसार में यदि कुछ है तो विज्ञान और उसके नियम, जिनकी पढ़े-लिखे लोग खोज करते हैं और जिनको केवल धनिक जानते हैं। वे कहते हैं कि सब लोगों के हित के लिए यह आवश्यक है कि लोग उनके जैसा आलसी जीवन बितावें यानी स्कूलों में जायं, व्याख्यान सुनें, नाटक-सिनेमा देखें, सभाओं में जाय आदि-आदि। उनका कहना है कि इसके उपरान्त उन सब कष्टों का स्वयमेव अन्त हो जायगा, जिनसे श्रमजीवी आज पीड़ित हैं।

इन लोगों में से कोई भी उस स्वर्ण नियम का खण्डन नहीं करता, किन्तु साथ-साथ वे इतने धार्मिक, राजकीय और वैज्ञानिक नियम आगे धर देते हैं कि उनके बीच वह सरल, स्पष्ट और सर्व-सुलभ ईश्वरीय-नियम, जिसके पालन से अधिकांश मनुष्यों के कष्टों का अन्त हो सकता है, न केवल अगोचर बल्कि लुप्त हो जाता है।

यही कारण है उस आश्चर्यजनक स्थिति का, जिसमें श्रमजीवी शासकों और धनिकों द्वारा पीढ़ी-दर-पीढ़ी पददलित होते रहने पर भी अपने और अपने दूसरे भाइयों का जीवन बर्बाद करते रहते हैं, अपने उद्धार के लिए अत्यन्त पेचीदा, चतुराईपूर्ण और विविध उपायों का अवलम्बन करते हैं अर्थात् प्रार्थनायें करते हैं, देवताओं को भेंट-पूजा चढाते हैं, राजकीय नियमों का सिर झुका कर पालन करते हैं, सभायें करते हैं, संस्थायें बनाते हैं, श्रमजीवी संघ कायम करते हैं, हड़तालें करते हैं और क्रांतियां करते हैं। किन्तु वे उस एक-मात्र उपाय का यानी

ईश्वरीय नियम का सहारा नहीं लेते जो निश्चय ही उनके समस्त कष्टों को दूर कर सकता है।

जो लोग धार्मिक, राजनैतिक और वैज्ञानिक दलीलों के जाल के अभ्यस्त हैं, वे कहेंगे—"किन्तु क्या यह सम्भव है कि इस सरल और संक्षिप्त कथन में तमाम ईश्वरीय नियम और मनुष्य जीवन का पथ-प्रदर्शन भरा पड़ा है।" यह लोग समझ बैठे है कि ईश्वरीय नियम और मनुष्य जीवन का पथ-प्रदर्शन पेचीदा सिद्धांतों में निहित होना चाहिए और इसलिए वह इतने संक्षिप्त और सरल कथन में प्रकट नही किया जा सकता।

यह सच है कि सम-आचरण का यह नियम बहुत सक्षिप्त और सरल है, किन्तु उसकी संक्षिप्तता और सरलता ही यह सिद्ध करती है कि वह निर्विवाद, शाश्वत, सत्य और न्यायपूर्ण नियम है। यह नियम समस्त मानव-समाज के हजारों वर्षों के अनुभव का निचोड़ है; वह किसी एक सम्प्रदाय, राज्य अथवा विज्ञानवादी दल के मस्तिष्क की उपज नहीं है। सृष्टि के आरम्भ विषयक धार्मिक कल्पनाओं और धारा सभाओं, सर्वोपरि सत्ता, दण्ड, सम्पत्ति और मूल्य का सिद्धांत, विज्ञान का वर्गीकरण आदि-आदि विषयों की चर्चाओं में बड़ी गम्भीरता और बुद्धिमत्ता हो सकती है, किन्तु उसका उपयोग सिर्फ मुट्ठी भर लोगों के लिए है। इसके विपरीत यह नियम, कि दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करो, जैसा कि तुम दूसरों से अपने लिए चाहते हो, सर्व-सुलभ है और जाति, धर्म, शिक्षा और उम्र का उस पर कोई असर नहीं पड़ता।

इसके अलावा जो धार्मिक, राजनैतिक और वैज्ञानिक दलीलें एक समय और एक स्थान में सही मानी जाती है, वही दूसरे समय और दूसरे स्थान पर ग़लत मानी जाती हैं। किन्तु सम-आचरण का यह नियम सर्वत्र सही माना जाता है और उसको एक बार समझ लेने वालों के लिए कभी ग़लत नहीं हो सकता। किन्तु इस नियम में और अन्य नियमों में मुख्य अन्तर और खास लाभ यह है कि धार्मिक, राजनैतिक

और वैज्ञानिक नियम मनुष्यों को सन्तोष नही देते और न उनका हित-साधन कर सकते है। यही नहीं, उनसे बहुधा भारी शत्रुता और मुसीबत पैदा हो जाती है।

किन्तु दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करना, जैसा कि दूसरों से हम अपने लिए चाहते हैं या दूसरों के साथ वैसा व्यवहार न करना, जैसा हम अपने लिए नही चाहते—यदि इस नियम को हम स्वीकार कर ले तो उससे सद्‌भावना और हित-साधन के अतिरिक्त और कुछ नही हो सकता। और इसलिए इस नियम के परिणाम बेहद लाभकारी और विविध होंगे। उससे मनुष्यों के तमाम पारस्परिक सम्बन्ध निर्धारित हो जायगे और सर्वत्र विद्वेष और संघर्ष के स्थान पर सद्‌भावना और सेवा का राज्य हो जायगा। यदि लोग उस माया जाल से मुक्त हो जायं, जिसने उनकी दृष्टि से इस नियम को छिपाया हुआ है, उसकी अनिवार्यता को स्वीकार कर लें और जीवन मे उस पर आचरण करें तो एक नये ही विज्ञान का जन्म हो जाय, जो सर्व-साधारण की सम्पत्ति होगा और दुनिया में सबसे अधिक महत्वपूर्ण होगा। यह विज्ञान बतायेगा कि इस नियम के आधार पर किस प्रकार विभिन्न व्यक्तियों के बीच और समाज के तमाम संघर्षों का अन्त किया जा सकता है। और यदि इस नवीन विज्ञान का जन्म और विकास हो जाय और जिस प्रकार आज-कल हानिकर अन्ध-विश्वासों और बहुधा बेकार या हानिकर विज्ञानों की शिक्षा दी जाती है, उसी प्रकार उसकी भी तमाम जनता और बालकों को शिक्षा दी जाय तो मनुष्य का सारा जीवन ही बदल जायगा और साथ ही उस कष्टमय वातावरण का भी अन्त हो जायगा, जिसका अधिकांश मानव-समाज आज शिकार बना हुआ है।

बाइबिल की परम्परा का यह दावा है कि सम-आचरण का नियम प्रकट होने से बहुत पहले परमात्मा ने मनुष्यों के लिए अपना कानून बनाया। इस क़ानून मे यह आदेश भी शामिल था कि "किसी को मारो मत।" यह आदेश अपने आरम्भ काल में सम-आचरण के नियम के

समान ही महत्व-पूर्ण और परिणामकारी था, किन्तु उसकी भी वही दशा हुई, जो पिछले नियम की। यद्यपि लोगों ने उसका प्रत्यक्ष रीति से खण्डन नही किया, किन्तु पिछले नियम की भाति वह भी अन्य विधि-विधानों के जमघट में लुप्त हो गया, ओर यह विधि-विधान, मानव जीवन की अखण्डनीयता के नियम जितने ही या उससे भी अधिक महत्वपूर्ण समझे जाने लगे। यदि केवल यही एक आदेश हुआ होता कि—'तू किसी को न मार' तो मनुष्यों को मानना पड़ता कि यह नियम अपरिवर्तनीय और अनिवार्य है और उसकी जगह और कोई नहीं ले सकता। यदि मनुष्य केवल इसी ईश्वरीय नियम को स्वीकार कर लें और उसका कड़ाई के साथ पालन करें, कम-से-कम उतनी कड़ाई के साथ, जितनी कड़ाई के साथ कि वे पूजा-पाठ, संध्या-हवन आदि नियमों का पालन करते है तो मानव जाति का सारा जीवन ही बदल जाय। न युद्धों की और न गुलामी की सम्भावना रह जाय, न धनवान गरीबों से उनकी जमीन का अपहरण कर पाएँ और न मुट्ठी भर लोग अधिकतर लोगों की मेहनत का फल हड़प सकें। यह सब तभी तक हो सकता है जब तक कि मरने की सम्भावना रहती है अथवा मारने का भय बना हुआ रहता है।

'किसी को मारो मत'—यदि इसको एक मात्र ईश्वरीय-नियम मान लिया जाय तो मानव जाति की अवस्था वही हो सकती है जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है। किन्तु जब संध्या करने, हवन करने और इस प्रकार की अन्य आज्ञाओं को इस नियम के बराबर महत्वपूर्ण मान लिया गया तो धर्माचार्यों ने और भी नये-नये नियम बना डाले और उनको भी उतना माननीय समझा जाने लगा। परिणाम यह हुआ कि परमात्मा का सबसे बड़ा आदेश—किसी को मारो मत—उन नियमों के सागर में डूब गया और लोगों ने उसको हर अवस्था में अनिवार्य समझना छोड़ दिया। ऐसे भी उदाहरण सामने आए कि लोगों ने उसके बिल्कुल विपरीत आचरण किया। यही बात सम-आचरण के नियम के सम्बन्ध में भी हुई।

इस प्रकार बुराई की जड़ यह नही रही कि मनुष्य ईश्वर के असली नियम को नही जानते। बुराई की असली जड़ तो वे लोग है जो असली नियम का ज्ञान और पालन अपने लिए असुविधाजनक समझते है। यह लोग उसको नष्ट नही कर सकते और न उसका खण्डन कर सकते है और इसलिए नये-नये नियम बनाते है और कहते है कि ये नियम उतने ही माननीय हैं अथवा परमात्मा के असली नियम से भी ज्यादा माननीय है। मनुष्यों को उनके कष्टों मे मुक्ति दिलाने के लिए अब सिर्फ यही आवश्यक है कि वे अपने को उन सब धार्मिक, राजकीय और वैज्ञानिक अन्ध-विश्वासो से मुक्त कर ले जिनको अनिवार्य जीवन-नियम के रूप मे हमारे आगे पेश किया जाता है। इस प्रकार मुक्त हो जाने पर वे स्वभावत: अन्य विधि-विधानो की अपेक्षा उस वास्तविक और शाश्वत ईश्वरीय नियम को अधिक माननीय समझेंगे जो केवल मुट्ठी भर व्यक्तियो को नही, बल्कि दुनिया भर के तमाम मनुष्यों को सबसे अधिक सुख पहुँचाने की क्षमता रखता है।

श्रमजीवियो को अपने अन्त.करण की शुद्धि करनी चाहिए, ताकि राज्य-तंत्र और धनिक उनके जीवन को हड़पना बन्द कर दे। पाप गन्दगी मे ही पैदा होता है, और उसको ऐसे अनजान लोगों से तभी तक पोषण मिलता है जब तक वे अस्वच्छ रहते है। इसलिए श्रमजीवियों के लिए सकटों से बचने का एक ही मार्ग है और वह यह कि वे अपनी आत्म-शुद्धि करे। इस शुद्धि के लिए यह आवश्यक है कि वे धार्मिक, राजकीय और वैज्ञानिक अन्ध-विश्वासों से मुक्त हों। यह भी आवश्यक है कि वे ईश्वर और ईश्वरीय नियमों मे विश्वास रखें। इस में उनकी मुक्ति का एक मात्र उपाय निहित है।

इस समय हम को दो प्रकार के श्रमजीवी मिलते है—एक तो शिक्षित और दूसरे साधारण श्रेणी के जो प्रायः अशिक्षित होते हैं। दोनों के दिलों में वर्तमान अवस्था के विरुद्ध तीव्र असन्तोष होता है। शिक्षित श्रमजीवी ईश्वर और ईश्वरीय नियम मे विश्वास नही करता, वह केवल मार्क्स

आदि साम्यवाद के प्रवर्तको को मानता है। वह धारासभाओ में अपने प्रतिनिधियों की हलचलों का अनुशीलन करता है। वह भू-स्वामियों द्वारा ज़मीन और श्रम के साधन हड़प लिये जाने और विरासत के कानून के विरुद्ध जोशीले भाषण देता है। इसके विपरीत अशिक्षित श्रमजीवी को यद्यपि इन सिद्धान्तो का ज्ञान नही होता और वह धार्मिक परम्परा मे विश्वास रखता है, किन्तु उसके दिल में भी भू-स्वामियो और पूजीपतियों के विरुद्ध शिक्षित श्रमजीवी जितना ही गुस्सा भरा रहता है और वर्तमान समाज संगठन को बिल्कुल गलत समझता है। किन्तु शिक्षित अथवा अशिक्षित किसी भी श्रमजीवी को यदि ऐसा अवसर मिले कि दूसरों की अपेक्षा सस्ती चीजे पैदा करने से उसकी हालत सुधर सकती है, तो उससे चाहे सैकड़ों, हजारो साथियों का अनिष्ट ही क्यो न होता हो, वह ९९ प्रतिशत उस मौके का लाभ उठाये बिना न रहेगा। अथवा उसको किसी पूजीपति के यहा बड़े वेतन पर नौकरी मिल जाय, अथवा वह जमीन खरीद ले या मजदूरो के जरिये किसी व्यवसाय का संगठन कर सके तो वह बिना किसी हिचकिचाहट के यह काम करने को उद्यत हो जायगा और मालिक की हैसियत से अपने विशेष अधिकारों का जन्मजात भू-स्वामियों और पूजीपतियो से भी ज्यादा जोरों के साथ समर्थन करेगा।

और हिंसा के काम मे सहयोग देने की बात तो न कवल नैतिक दृष्टि से गलत है बल्कि श्रमजीवियों और उनके साथियों के लिए अत्यन्त घातक है। श्रमजीवियों की गुलामी का मूल आधार यही है। किन्तु इस विषय में कोई चिन्ता नही करता और इस बात को बिल्कुल सामान्य समझता है। ऐसी अवस्था में जहा मनुष्यों का यह हाल हो, क्या वर्त-मान से भिन्न किसी मानव समाज की रचना की जा सकती है ? श्रम-जीवी अपनी दुर्दशा के लिए भूस्वामियों, पूजीपतियों और शासकों की लोभवृत्ति और निर्दयता को उत्तरदायी ठहराते हैं, किन्तु उनमें से सब अथवा प्राय: सब, जिनका ईश्वर और ईश्वरीय नियम मे कोई विश्वास

नही है, इसी प्रकार छोटे किन्तु असफल रूप में भूस्वामी, पूजीपति और शासक हैं।

एक देहाती लड़का आजीविका की तलाश में शहर में अपने एक मित्र के पास आता है। एक बड़े सेठ के यहां कोचवान की जगह खाली होती है। लडका कहता है कि वह उस जगह प्रचलित दर से कम वेतन लेकर काम करने को तैयार है। उसे नोकरी मिल जाती है, किन्तु दूसरे दिन वह सुनता है कि इस जगह पहले एक बुड्ढा कोचवान काम करता था जो अब बेकार हो गया है और उसके सामने पेट का सवाल पैदा हो गया है। लड़के को बुड्ढे की हालत पर बड़ा खेद होता है और वह अपनी नौकरी से इस्तीफा दे देता है। कारण जो, बर्ताव उसे अपने लिए पसन्द न हो, वह दूसरों के साथ वही बर्ताव क्यो करता ?

दूसरा उदाहरण एक बड़े परिवार वाले किसान का है। वह एक धनिक और कस कर काम लेने वाले भूस्वामी के यहा अच्छे वेतन पर प्रबन्धक बन जाता है। इस प्रकार अपने परिवार के भरण-पोषण की चिन्ता से वह मुक्त हो जाता है और सतोष की सांस लेता है। किन्तु ज्यों ही वह काम सम्हालता है, उसको देहातियों पर जुर्माने करने पड़ते हैं। कारण उनके मवेशी जमीदार के बाड़े में घुम गये थे। उसे जमींदार के जंगल से ईंधन लाने वाली औरतों को गिरफ्तार करना पड़ता है। उसे मज़दूरों की मजदूरियों घटानी पड़ती हैं और कस कर अधिक से अधिक काम लेना पड़ता है। उसका अन्तःकरण उसको यह सब कुछ करने की गवाही नही देता। वह अपने परिवार के कहने-सुनने की कोई परवाह नही करता और नौकरी छोड़ देता है और कम आमदनी वाले और किसी काम में लग जाता है।

तीसरा उदाहरण एक सैनिक का है। अपनी कम्पनी के साथ मज़-दूरों के विद्रोह को दबाने के लिए उसको लाया गया है और गोली चलाने का हुक्म दिया गया है। वह ऐसा करने से इन्कार कर देता है और सब प्रकार का उत्पीड़न सहने के लिए उद्यत हो जाता है।

यह सब लोग ऐसा इसलिए करते हैं कि उनको उस बुराई का पता होता है जो उन्हे दूसरो के प्रति करनी होती है। उनका दिल उनको कह देता है कि यह काम ईश्वर के नियम के विरुद्ध होगा उन्हे वह काम न करना चाहिए जो वे अपने लिए नही चाहते।

किन्तु यदि कोई श्रमजीवी यह नही जानता कि वह किसी काम की मजदूरी सस्ती करके दूसरे मजदूरो को नुकसान पहुचा रहा है तो इससे उस बुराई की मात्रा कम नही हो जाती, जो वह अपने साथियों की कर डालता है। और यदि कोई श्रमजीवी मालिकों की तरफ हो जाता है और अपने साथियों के नुकसान को देखता या महसूस नही करता, तो भी अनिष्ट तो अनिष्ट ही रहेगा। जो मनुष्य सेना मे भर्ती होता है और जरूरत पड़ने पर अपने भाइयों को मारने के लिए उद्यत होता है, वह भी अनिष्ट ही करता है। सेना में भर्ती होते समय चाहे उसको यह न मालूम पड़े कि उसे कहा और किसको मारना पड़ेगा, पर वह यह तो समझ सकता है कि गोली चलाना और सगीन भोकना उसका काम होगा।

अत्याचार और बन्धन से छुटकारा पाने के लिए श्रमजीवियो को अपने भीतर वह धार्मिक भावना पैदा करना चाहिए जो अपने भाइयों की हालत बिगाड़ने वाला कार्य करने से रोकती है, चाहे हालत बिगड़ती हुई भले ही न दिखाई दे। उनको धार्मिक शपथ ले लेनी चाहिए कि (१) यदि संम्भव हो तो पूजीपतियों के अधीन काम न करेंगे। (२) प्रचलित से कम मजदूरी पर काम न करेंगे। (३) पूँजीपतियो की ओर मिलकर और उनके हितों का पोषण करके अपनी अवस्था न सुधारेंगे और राजकीय बल-प्रयोग मे किसी प्रकार सहयोग न देंगे। अपने कार्यो के प्रति इस प्रकार की धार्मिकवृत्ति रखकर के श्रमजीवी अत्याचारों से छुटकारा पा सकते हैं।

यदि श्रमजीवी लोभ अथवा भय के वशीभूत होकर सगठित हत्याकारी दल में शामिल होता है, अपने व्यक्तिगत लाभ की खातिर जान-बूझ-

कर अपने से ज्यादा जरूरतमन्द श्रमिक के पेट पर लात मारता है, वेतन की खातिर अत्याचार करने वालो के पक्ष में हो जाता है और उनके कामों मे सहयोग देता है, और उसकी अन्तर-आत्मा इसके लिए उसको नही टोंचती तो उसको किसी को दोष देने का कोई अधिकार नही ? अपनी स्थिति के लिये वह स्वय जिम्मेदार है । वह या तो पद्दलित हो सकता है या पीडक। इसके अलावा तीसरी स्थिति नही हो सकती। ईश्वर और ईश्वरीय नियम मे श्रद्धा न हुई तो मनुष्य अपने अल्प जीवन मे अधिक से अधिक सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा चाहे उसका परिणाम दूसरों के लिए कैसा भी क्यो न हो। और जब लोग अपनी अपनी चिंता करेंगे, अपना ही अधिक से अधिक सुख खोजेंगे, और दूसरों पर पडने वाले नतीजो का कुछ खयाल न करेंगे तो समाज सगठन का कैसा भी रूप क्यो न हो, अनिवार्यत मनुष्यो का ऐसा समूह अस्तित्व मे आयेगा, जिसमे चोटी पर होगे मुट्ठी भर शासक लोग और नीचे होगे असख्य पद्दलित।

: ८ :

सत्ता बनाम स्वतन्त्रता

महाकवि शैली ने लिखा है "ससार मे सबसे घातक भूल यह हुई कि राजनीति और नीति शास्त्र को अलग-अलग समझा गया।"

"श्रमजीवी क्या करें ?" शीर्षक निबन्ध मे मैंने अपनी यह सम्मति प्रगट की है कि यदि श्रमजीवी अपने कष्टों का अन्त चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि वे अपना वर्तमान जीवनक्रम बदल दें अर्थात अपनी व्यक्तिगत भलाई की खातिर अपने पड़ोसियों के साथ सघर्ष न करें, और बाइबिल के इस नियम का अनुसरण करें कि मनुष्यों को दूसरों के साथ वैसा ही बर्ताव करना चाहिए जैसा वह दूसरों से अपने लिए चाहता है।

जैसी कि मुझे आशा थी, अत्यन्त विरोधी विचार रखने वाले लोगों ने एक ही स्वर में मेरे प्रस्ताव की निन्दा की है। लोग कहते है "मेरा प्रस्ताव अलौकिक है, अव्यवहारिक है। जो लोग अत्याचार और हिंसा

के शिकार हो रहे हैं, वे जब तक धर्मात्मा न बन जायें तब तक उनकी मुक्ति के लिए प्रतीक्षा करते रहना वर्तमान बुराई को स्वीकार करना और निष्क्रिय बन कर बैठ रहना होगा।" इसलिए मैं यहां थोड़े से मे यह बता देना चाहता हू कि मै उस प्रस्ताव को इतना अव्यावहारिक क्यों नही मानता जितना कि यह प्रतीत होता है, बल्कि मेरी राय में वर्तमान समाज व्यवस्था को सुधारने के लिए वैज्ञानिको ने जो उपाय सुझाये हैं, उन सबकी अपेक्षा मेरे प्रस्ताव पर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। मेरा कहना खास तौर पर उन लोगों के लिए है जो ईमानदारी से, शब्दों मे नही बल्कि कार्य रूप मे, अपने पड़ौसियो की सेवा करना चाहते हैं।

सामाजिक जीवन के आदर्श, जो मनुष्यो की प्रवृत्तियों का पथ-प्रदर्शन करते हैं, बदलते रहते हैं और उनके साथ मानव जीवन का व्यवस्था-क्रम भी बदलता रहता है। एक जमाने मे सामाजिक जीवन का आदर्श पूर्ण 'पाशविक स्वतत्रता' था। इसके अनुसार मानव जाति का एक भाग दूसरे भाग को अपना वश चलते निगलने की कोशिश करता था। यहां निगलने शब्द का उपयोग यथार्थ और अलंकारिक दोनों ही रूप में किया गया है। इसके बाद ऐसा जमाना आया जब एक आदमी की सत्ता सामाजिक आदर्श बन गया और लोग अपने शासकों के प्रति आदर प्रकट करने लगे और न केवल स्वेच्छापूर्वक बल्कि उत्साहपूर्वक उनके अधीन हो गए। रोम और मिश्र के इतिहास इसके उदाहरण हैं। इसके बाद लोगों ने जीवन के उस संगठन को अपना आदर्श माना जिससे सत्ता को सत्ता की खातिर नही, बल्कि मनुष्यों के जीवन के उत्तम संगठन के लिए आवश्यक समझा गया। इस आदर्श की पूर्ति के लिए एक समय विश्व-व्यापी एक-तंत्री राज्य स्थापित करने का उद्योग हुआ, फिर विभिन्न एक-तंत्री राज्यों को एक सूत्र में आबद्ध रखने और उनका पथ-प्रदर्शन करने के लिए विश्व-व्यापी धार्मिक सत्ता का प्रादुर्भाव हुआ। इसके बाद प्रतिनिधि शासन के आदर्श का जन्म हुआ और फिर प्रजातंत्र का।

प्रजातंत्र मे कही सार्वत्रिक मताधिकार था और कही नही। आजकल यह माना जाता है कि उस आदर्श की पूर्ति ऐसे आर्थिक सगठन द्वारा हो सकती है जिसमे श्रम के समस्त साधन व्यक्तियो की सम्पत्ति होने के बजाय सारे राष्ट्र की सम्पत्ति हों।

यह आदर्श एक दूसरे से कितने ही भिन्न क्यों न हों, उनको जीवन में कार्य रूप देने के लिए हमेशा सत्ता को आवश्यक समझा गया। सत्ता से मतलब दबाने वाली सत्ता से, जो मनुष्यों को स्थापित कानूनो को मानने के लिए बाध्य करती है। आज भी यही समझा जाता है।

यह समझा जाता है कि सर्व-साधारण का अधिक से अधिक हित-साधन करने के लिए कुछ ऐसे लोगो की आवश्यकता होती है, जिनके हाथ में सत्ता सौप दी जाय और जो ऐसा सगठन कायम करके बनाए रक्खे जिसमें नागरिकों को अपने काम, अपनी स्वतन्त्रता और अपने जीवन पर दूसरों की ओर से आक्रमण होने का कम से कम खतरा हो। चीनी शिक्षा के अनुसार यह काम कुछ धर्मात्मा व्यक्तिओ को और योरोपीय शिक्षा के अनुसार प्रजा द्वारा अभिषिक्त या निर्वाचित व्यक्तियों को सौंपना चाहिए। जो वर्तमान राजकीय सगठन को मानव जीवन के लिए आवश्यक समझते है, न केवल वे, बल्कि क्रांतिकारी और समाजवादी, जो यद्यपि वर्तमान राजकीय सगठन मे परिवर्तन की जरूरत महसूस करते हैं, फिर भी सत्ता को समाज व्यवस्था के लिए आवश्यक समझते है, और इस सत्ता का अर्थ है कि कुछ लोगों को स्थापित कानूनों का पालन करवाने के लिए दूसरों को बाध्य करने का अधिकार हो।

प्राचीन काल से लगाकर आजतक यही स्थिति रही है। किन्तु जिन लोगों को सत्ता के सहारे कुछ नियम मानने के लिए बाध्य किया गया उन्होंने उन नियमों को सदा ही सर्वोत्तम नही समझा और इसलिए वे बहुधा सत्ताधीशों के विरुद्ध उठ खड़े हुए, उन्हें पदच्युत कर दिया और पुरानी व्यवस्था के स्थान पर नई व्यवस्था कायम की जो उनके मतानुसार सर्वसाधारण के लिए पहिले से अधिक हितकर थी। किन्तु जिनके हाथ मे

भी सत्ता गई, उनका सत्ता ने दिमाग खराब कर दिया और इसलिए उन्होंने सर्वसाधारण के लिए नही, बल्कि अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए उस सत्ता का प्रयोग किया। इस प्रकार नई सत्ता हमेशा पुरानी जैसी ही रही और बहुधा पहले से भी अधिक अन्यायपूर्ण सिद्ध हुई।

यह तो उस अवस्था की बात हुई जब स्थापित सत्ता के विरुद्ध विद्रोह करने वाले उसे परास्त करने मे कामयाब हुए। किन्तु जब स्थापित सत्ता को विजय प्राप्त हुई तो उसने आत्म-रक्षा की भावना से मत्त होकर हमेशा अपनी रक्षा के साधनों को बढाया और वह अपने नागरिको के स्वतन्त्रता के लिए पहिले से भी अधिक हानिकारक बन गई।

भूत और वर्तमान काल मे हमेशा ऐसा ही होता आया है। १६ वीं शताब्दि में योरोप में जो कुछ हुआ, वह इस सम्बन्ध मे खासतौर पर शिक्षाप्रद है। इस शताब्दि के पूर्वार्द्ध मे क्रांतियाँ अधिकाशत: सफल हुई। किन्तु पुरानों की जगह लेने वाले नये सत्ताधीशो, नेपोलियन प्रथम, चार्ल्स दसवे, नेपोलियन द्वितीय ने नागरिकों की आजादी में वृद्धि नहीं की। सन् १८४८ के बाद, १६ वी शताब्दि के उत्तरार्द्ध मे क्रांति की तमाम कोशिशों को दबा दिया गया और पूर्व क्रातियों और नये प्रयत्नों के फल स्वरूप शासकों ने अपनी आत्म-रक्षा के लिए अधिकाधिक किलेबन्दी करली, और गत शताब्दि के औद्योगिक आविष्कारों की बदौलत, जिनके फल स्वरूप मनुष्यों को प्रकृति पर और एक दूसरे पर अपूर्व अधिकार प्राप्त हो गए हैं, उन्होंने उसे और भी बढ़ाली और गत शताब्दि के अन्त होते-होते उसका इस हद तक विकास कर लिया है कि उसके विरुद्ध संघर्ष करना असम्भव हो गया है। शासकों ने लोगों से न केवल असंख्य धन-राशि जमा कर ली है, उनके पास चतुरतापूर्वक जमा किया हुआ न केवल सुसंगठित सैन्य-दल है, बल्कि उन्होंने जन-साधारण को प्रभावित करने के तमाम आध्यात्मिक साधनों को भी हथिया लिया है। वे समोचार पत्रों का सूत्रसंचालन करते है और धार्मिक प्रगति और शिक्षा पर उनका आधिपत्य है। इन साधनों को इस प्रकार संगठित

किया गया है कि स्थापित सता के विरुद्ध सिर उठाना बहुत कठिन हो गया है

यह पहलू बिल्कुल नया और इस युग के लिए एकदम मौलिक है। नीरो, चंगेजखाँ अथवा चार्ल्स महान कितने ही शक्तिशाली क्यों न रहे हो, वे अपने राज्यों के सीमान्तों पर होने वाले उपद्रवों को न दबा सके। उनके लिए अपने प्रजाजनों की आध्यात्मिक प्रवृत्तियों, शिक्षा, विज्ञान और नीति और उनकी धार्मिक वृत्तियों का संचालन करना और भी कम सम्भव था। किन्तु आज ये सब साधन आधुनिक शासको के हाथ मे है। उनके पास खुफिया पुलिस है, गुप्तचर प्रणाली है, अखबारों को प्रभावित करने की शक्ति है, रेलें, तार और टेलीफोन हैं, फ़ोटोग्राफी (चित्रसाज़ी) की कला है, जेल और किले है, अनन्त धनराशि है, आने वाली पीढ़ी की शिक्षा और सेना भी उन्ही के हाथ में है।

इन सब साधनों का संगठन इस प्रकार किया गया है कि अयोग्य से अयोग्य और ना समझ सत्ताधीश भी आत्म-रक्षा की स्वाभाविक भावना से प्रेरित होकर विद्रोह की गुरुतर तैयारियों को रोक सकते है और भूतकाल के स्वप्न देखने वाले क्रातिकारियों द्वारा समय-समय पर खुली बगावत के जो कमजोर प्रयत्न अब भी किये जाते है, उनको वे बिना किसी प्रयत्न के सदा कुचल दे सकते है। इस समय शासकों पर विजय पाने का एक ही उपाय है। वह यह कि सैनिक लोग, जो प्रजा के ही आदमी है, शासकों को सहायता करना बन्द कर दें। किन्तु उनका संगठन इस प्रकार किया गया है कि उन्हें आसानी से प्रभावित नहीं किया जा सकता। अतः यदि शासक सत्ता अपने हाथों में रखना चाहें, और वे ऐसा अवश्य चाहेंगे, क्योंकि सत्ता न रही तो उनको पद्च्युत हो जाना पड़ेगा, तो क्रान्ति का कोई खास आयोजन नहीं किया जा सकता और यदि ऐसा कोई आयोजन सम्भव भी हो तो वह हमेशा कुचल दिया जायगा और बहुत से जोशीले व्यक्तियों के बर्बाद होने और शासकों की सत्ता बढ़ जाने के अलावा उसका कोई परिणाम न निकलेगा। क्रान्तिकारी और समाजवादी, जो गुजरे हुए जमाने की परम्परा का अनुसरण

करते हैं और लड़ने-भिड़ने के जोश में बह जाते हैं, भले ही यह बात उनकी समझ में न आये, क्योंकि कुछ अर्से से वह एक पेशा-सा बन गया है, किन्तु जो ऐतिहासिक घटनाओं पर स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करते हैं, उनको यह सत्य अवश्य मानना पड़ेगा।

यह एकदम नई स्थिति है और इसलिए जो वर्तमान व्यवस्था को बदलना चाहते हैं, उन्हें शासकों की इस स्थिति को ध्यान में रखकर अपना कार्यक्रम बनाना चाहिए।

शासकों और शासितों के बीच शताब्दियों से संघर्ष होता आया है। उसके फल स्वरूप एक सत्ता के बाद दूसरी सत्ता कायम होती रही। किन्तु गत शताब्दि के मध्य से योरोप में इस युग के औद्योगिक आविष्कारों के फलस्वरूप विद्यमान शासकों के हाथों में ऐसे हथियार आ गए हैं कि उनसे लड़ना असम्भव हो गया है। जिस मात्रा में वह सत्ता अधिकाधिक विकसित होती गई, उसी मात्रा में उसकी असंगतता प्रकट होती गई। लोक हितकारी सत्ता और हिंसा की कल्पना के सामंजस्य में जो आन्तरिक विरोध है वह अधिकाधिक स्पष्ट होता गया। यह स्पष्ट हो गया कि जिस सत्ता को कल्याणकारी होने के लिए सर्वश्रेष्ठ मनुष्यों के हाथ में रहना चाहिए था, वह हमेशा निकृष्टतम लोगों के हाथों में रही। कारण, सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों ने सत्ता के मूल-स्वरूप को ध्यान में रखकर उसे कभी भी हस्तगत करना न चाहा—सत्ता का अर्थ यह है कि अपने ही पड़ोसियों के प्रति हिंसा का प्रयोग किया जाय—यही कारण है कि सत्ता न उनको कभी प्राप्त हुई और न उनके हाथों में रही।

लोक कल्याण और सत्ता के बीच विरोध इतना स्पष्ट है कि शायद ही कोई उससे अपरिचित रहा हो। किन्तु सत्ता का वातावरण इतना भड़कीला है, वह इस कदर लोगों में भय का संचार करती है और परम्परा मनुष्यों को इतना जड़ बना देती है कि मनुष्यों को अपनी भूल का पता लगाने में सैकड़ों ही नहीं हजारों वर्ष गुजर गए। कुछ ही दिनों से लोग यह समझने लगे हैं कि सत्ता की पोशाक चाहे जितनी गम्भीर क्यों न

हो, उसका मूल तत्व लोगों को सम्मति, स्वतन्त्रता और जीवन के अपहरण का भय दिखाना और उसे कार्यरूप में परिणत करना है। इसलिए जो लोग राजाओं, सम्राटों, मंत्रियों, न्यायाधीशों आदि की भाँति राजनीति के क्षेत्र में अपना जीवन बिताते है और जिनका एकमात्र उद्देश्य अपनी सुविधाजनक स्थिति को कायम रखना होता है, वे सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति ही नही, बल्कि निकृष्टतम व्यक्ति होते हैं। ऐसे लोगों की सत्ता के द्वारा लोगों का हित साधन नही हो सकता। वे तो हमेशा मानव जाति के सामाजिक संकटों के प्रधान कारण रहे हैं और आज भी बने हुए है। इसलिए जहाँ पहले सत्ता के प्रति लोगों के हृदयों में उत्साह और भक्ति का उदय होता था, वहां आज अधिकांश और सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियो के दिलों मे उदासीनता ही नही निरादर और घृणा की भावना पैदा होती है। मानव-जाति का प्रगतिशील अग अब यह समझने लगा है कि सत्ता की सारी चमक-दमक जल्लाद की पोषाक—लाल कमीज और मखमली पाजामे के अलावा और कुछ नहीं है। वह पोशाक ही दूसरे कैदियों और जल्लाद का अन्तर प्रकट करती है, कारण उसका कार्य अत्यन्त अनैतिक और निंद्य है।

लोगों में सत्ता के प्रति जो भाव फैल रहे है, उनको ध्यान में रखकर आज कल शासक लोग दैवी अधिकारों, लोक निर्वाचनों अथवा जन्मजात गुणों के उच्च आधारों पर निर्भर नहीं रहते। वे बल-प्रयोग को ही अपना प्रथम और आखरी शस्त्र समझते है। इस प्रकार केवल दमन का सहारा लेने से सत्ता लोगों की और भी कम विश्वास-भाजन होती जा रही है और फल-स्वरूप उसे राष्ट्रीय जीवन की तमाम प्रवृत्तियों को अधिकाधिक कुचलने के लिए बाध्य होना पड़ा है और इस कारण लोगों में असन्तोष की मात्रा और भी बढ़ जाती है।

सत्ता अब अजेय बन गई है। वह दैवी अधिकारों, निर्वाचन, प्रतिनिधित्व आदि राष्ट्रीय आधारों पर निर्भर नहीं रहती। हिंसा ही उसका अस्त्र बन गया है। साथ ही लोगों ने सत्ता पर विश्वास करना और

उसका सम्मान करना बन्द कर दिया है। केवल विवश होकर ही वे उसके आगे सिर झुकाते हैं। ठीक गत शताब्दि के मध्य से जब सत्ता अजेय बनी और साथ ही उसने प्रतिष्ठा से भी हाथ धोया, लोगों मे यह विचार पैदा हुआ कि वास्तविक स्वतन्त्रता का सत्ता के साथ कोई मेल नहीं हो सकता। बल-प्रयोग के हामी जिस स्वतन्त्रता का प्रचार करते है, वह तो काल्पनिक स्वतन्त्रता है, कारण उसमे मनुष्य को दण्ड के भय से दूसरो की आज्ञा माननी पड़ती है। वास्तविक स्वतन्त्रता में हरेक मनुष्य को अपने विवेक के अनुसार जीवन बिताने और आचरण करने की स्वतन्त्रता होती है।

इस नये आदर्श के अनुसार, जैसा कि पहले ख़याल किया जाता था, सत्ता कोई ईश्वरीय अथवा महान वस्तु नही है। वह सामाजिक जीवन के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक भी नही है। वह तो नग्न बलप्रयोग का परिणाम मात्र है जो थोड़े से लोग दूसरों पर किया करते हैं। यह सत्ता चाहे किसी शासक के हाथ में हो या शासन समिति के हाथ मे, उसका एक ही अर्थ होगा कि कुछ आदमियों की दूसरे आदमियो पर हुकूमत चले। ऐसी दशा मे स्वतन्त्रता नही हो सकती और कुछ लोग मानव-जाति के शेष भाग को सताते रहेंगे। इसलिए सत्ता को न अपनाया जाय। किन्तु यह कार्य किस प्रकार सम्पादित किया जाय और उसके बाद कैसी व्यवस्था की जाय कि मनुष्य पुनः आपस मे एक दूसरे के साथ नग्न हिंसा का व्यवहार न करने लगे।

सभी अराजकतावादी इस प्रश्न का एक स्वर से यही उत्तर देते हैं कि यदि वास्तव में सत्तारहित समाज स्थापित करना हो तो यह बल प्रयोग द्वारा न होना चाहिए बल्कि लोगों मे यह भावना जाग्रत होनी चाहिए कि वह निरर्थक और बुरी वस्तु है। सत्ता रहित समाज व्यवस्था किस प्रकार स्थापित की जाय, इस बारे मे अराजकतावादियों की भिन्न-भिन्न सम्मतियां है।

मि० गॉडविन नामक अंग्रेज और प्राउढन नामक फ्रांसिसी विचारकों ने प्रथम प्रश्न के उत्तर में लिखा है कि सत्ता-रहित समाज की स्थापना

के लिए लोगों में ज्ञान का उदय होना काफी होगा। उनके मतानुसार चूंकि सत्ता सार्वजनिक हित और न्याय पर आक्रमण करती है, इसलिए यदि लोगो मे यह विचार फैलाया जाय कि सार्वजनिक हित और न्याय की रक्षा सत्तारहित समाज मे ही हो सकती है तो सत्ता खुद-ब-खुद मिट जायगी। दूसरा प्रश्न यह है कि सत्ता के बिना नवीन समाज की व्यवस्था किस प्रकार सुरक्षित रहेगी। इस सम्बन्ध मे दोनो ही विचारकों का कथन है कि जो लोग सर्वसाधारण के हित और न्याय की भावना से प्रेरित होगे, वे स्वभावत: सब से अधिक विवेकपूर्ण और उपयुक्त समाज व्यवस्था स्थापित कर लेगे।

दूसरी ओर बुकोनिन और क्रोपाटकिन जैसे अराजकतावादी हैं, जो यद्यपि यह स्वीकार करते हैं कि सर्वसाधारण को सत्ता की हानियों का ज्ञान होना चाहिए और यह कि सत्ता के होते हुए मानव उन्नति नहीं हो सकती, तथापि वे सत्तारहित समाज की स्थापना के लिए हिंसात्मक क्रांति का होना सम्भव ही नही, आवश्यक भी समझते है और उसके लिए तैयारी करने की लोगों को सलाह देते हैं। दूसरे प्रश्न का वे यों उत्तर देते है कि जब राज्य सगठन और सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार न रहेगा तो लोग स्वभावत. विवेक-पूर्ण, स्वतत्र और लाभदायक समाज व्यवस्था कायम कर लेगे।

मार्क्स स्टर्नर नामक जर्मन और मि० टकर नामक अमेरिकन विचारकों का भी एक ही मत है। वे मानते हैं कि यदि लोग यह समझ ले कि प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तिगत स्वार्थ ही मनुष्यों के कार्यों का बिलकुल पर्याप्त और उचित पथ प्रदर्शक है और केवल सत्ता ही मानव जीवन के मुख्य अग के पूर्ण विकास में बाधक होती है तो सत्ता अपने आप मिट जायगी। कारण, उस अवस्था में न कोई उसको स्वीकार करेगा और न उसमें हिस्सा ही लेगा। और जब लोग सत्ता की आवश्यकता न समझेंगे और उसके सम्बन्ध मे जो अन्ध-विश्वास है, उससे मुक्त हो जायंगे और केवल अपने व्यक्तिगत हितों का ही विचार करेगे तो वे अपने-आप ऐसी

समाज व्यवस्था कायम कर लेगे जो हरेक के लिए सब से अधिक पर्याप्त और लाभदायक होगी।

ये सब कथन सही है कि यदि सत्ता रहित समाज की स्थापना करनी है तो बल प्रयोग द्वारा नहीं हो सकती। कारण, जो सत्ता-सत्ता को मिटायेगी, वह सत्ता तो रहेगी ही। सत्ता तो तभी मिट सकती है जब लोग इस सत्य का अनुभव करे कि सत्ता बेकार और हानिकर वस्तु है और इसलिए लोग न तो उसको स्वीकार करें और न उसमें हिस्सा ले। यह निर्विवाद सत्य है। लोगों में विवेकपूर्ण ज्ञान का उदय होने पर ही सत्ता मिट सकती है। किन्तु यह ज्ञान हो कैसा ? अराजकतावादियों का विश्वास है कि सार्वजनिक हित, न्याय, उन्नति अथवा मनुष्यों के व्यक्तिगत स्वार्थों पर उसका आधार होना चाहिए। किन्तु यह सब बातें न केवल परस्पर एक दूसरे के विरुद्ध है, बल्कि उनके सम्बन्ध में लोगों की कल्पनायें भी बड़ी भिन्न हैं। इसलिए यह नहीं माना जा सकता कि जो लोग आपस में ही एक मत नही है, और जिन बातों के आधार पर वे सत्ता का विरोध करते हैं, उनके बारे में उनकी भिन्न-भिन्न धारणायें, हैं, वे सत्ता को मिटा सकेंगे—उस सत्ता को जिसकी जड़ें इतनी गहरी बैठी हुई है और जिसकी रक्षा इतनी योग्यतापूर्वक की जा रही है। इसके अलावा यह खयाल भी ग़लत है कि सार्वजनिक हित, न्याय और उन्नति के विचारों से प्रेरित होकर वे व्यक्ति जो सत्ता के पाश से मुक्त हो चुके होंगे, किन्तु जो सार्वजनिक हित के आगे अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को तिलांजलि देना नहीं चाहते, एक दूसरे की स्वतंत्रता पर आक्रमण न करेंगे और जीवन की न्यायपूर्ण व्यवस्था क़ायम कर लेंगे। मार्क्स स्टर्नर और मि. टकर का यह उपयोगितावादी और व्यक्तिवादी सिद्धांत कि प्रत्येक व्यक्ति के अपने व्यक्तिगत स्वार्थ का ही ध्यान रखने से सब लोगों मे न्यायपूर्ण संबंध स्थापित हो सकते हैं, न केवल मनमाना है, बल्कि जो कुछ वस्तुतः हो चुका है और आगे हो रहा है, उसके सर्वथा प्रतिकूल है।

इस प्रकार यद्यपि अराजकतावादी सत्ता-रहित समाज की स्थापना

के लिए आध्यात्मिक साधनों को सही तौर पर एकमात्र साधन स्वीकार करते है, किन्तु चूंकि उनकी जीवन सम्बन्धी कल्पना अधार्मिक और पार्थिव है, इसलिए वे आध्यात्मिक साधनों से वचित हैं। वे कपोल कल्पनाओं पर भरोसा किये बैठे हैं। फलस्वरूप सत्ता के पुजारियों को अराजकतावादियों द्वारा प्रतिपादित साधनों की अल्पता के कारण उनके सिद्धान्तों के वास्तविक आधारों को अस्वीकार करने का अवसर मिल जाता है।

आध्यात्मिक अस्त्र से लोग बहुत पहले से परिचित है। इसने हमेशा सत्ता को मिटाया है और जिन्होंने भी इसका प्रयोग किया, उन्हें पूर्ण और अमर स्वतंत्रता प्रदान की है। यह अस्त्र सिर्फ यह है कि हमारा जीवन के सम्बन्ध मे विशुद्ध दृष्टिकोण हो। इस दृष्टिकोण के अनुसार मनुष्य अपने इस पार्थिव जीवन को सम्पूर्ण जीवन का आंशिक प्रदर्शन समझता है और इस जीवन का अनन्त जीवन के साथ सम्बन्ध स्थापित करके उस अनन्त जीवन के नियमों की पूर्ति मे ही अपना सर्वोच्च हित मानता है। वह मनुष्य के बनाये हुए नियमों की अपेक्षा उस अनन्त के नियमों को अपन लिए अधिक माननीय समझता है। ऐसी धार्मिक कल्पना ही, जो समस्त मानव समाज के सामने जीवन का समान आदर्श उपस्थित करती है और जिसके अनुसार सत्ता के आगे सिर नही झुकाया जा सकता और न उसमें हिस्सा लिया जा सकता है, वास्तव मे सत्ता रहित समाज की स्थापना कर सकती है।

यह कितनी विचित्र बात है कि जब मनुष्यों ने जीवन के अनुभवों से यह समझा कि वर्तमान सत्ता अजेय है और पशु-शक्ति से उसको इस युग में परास्त नहीं किया जा सकता तभी उन्हें इस स्वयं-सिद्ध सत्य का भी पता लगा कि सत्ता और उससे पैदा होने वाले तमाम अनिष्ट मनुष्यों के बुरे जीवन के परिणाम हैं और इसलिए उनको मिटाने के लिए मनुष्यों को सद्जीवन का आश्रय लेना चाहिए।

मनुष्य इस तथ्य को समझने लगा है। अब उसको यह और समझना

है कि समाज मे सद्जीवन बिताने का एक ही मार्ग है। वह यह कि ऐसी धार्मिक शिक्षा पर अमल किया जाय जो स्वाभाविक हो और जिसे बहु-सख्यक जनता समझ सके। उसी के द्वारा मनुष्य उस आदर्श को सिद्ध कर सकेगा, जिसका उसके अन्तःकरण में जन्म हो चुका है और जिसको प्राप्त करने के लिए वह प्रयत्न कर रहा है। सत्ता रहित समाज की स्थापना करने और उसमे मनुष्यों को सद्जीवन बिताने के लिए तैयार करने के लिए होने वाले अन्य सब प्रयत्न निरर्थक है। उनके द्वारा हम उस लक्ष्य तक नही पहुच सकते जिसके लिए मानव प्रयत्न कर रहा है। वे तो उस लक्ष्य से और भी दूर हटाने वाले हैं।

* * *

मै यह बात उन ईमानदार लोगों से कहना चाहता हूँ जो स्वार्थमय जीवन से सन्तुष्ट नही हैं और जो अपने भाइयों की सेवा में अपनी शक्ति खर्च करना चाहते हैं। यदि वे राज्य सत्ता के कार्यो मे भाग लेते है या लेना चाहते हैं और इस साधन द्वारा लोगों की सेवा करना चाहते हैं तो उन्हें सत्ता पर आधारित राज्य संस्था के स्वरूप पर विचार करना चाहिए। उन्हें पता चलेगा कि हर राज्य-सत्ता को हिंसा का आश्रय लेना पड़ता है।

अमेरिका के मि० थोरो नामक एक लेखक ने अपने एक लेख में बताया है कि उन्होंने अमेरिका की सरकार को एक डालर का टैक्स क्यों अदा नहीं किया। उन्होंने लिखा है कि वह यह टैक्स देकर उस राज्य सत्ता के कार्य में भाग लेना नहीं चाहते जो हब्शियों की गुलामी को विहित करार देती है। अमेरिका, हालैण्ड और फ्रांस की राज्य-सत्ताओं के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार की बात कही जा सकती है। अतः कोई भी ईमानदार व्यक्ति, जिसने सत्ता के स्वरूप को पहचान लिया है, उसके कार्यो मे तभी हिस्सा ले सकता है जब वह यह सिद्धान्त मानता हो कि उद्देश्य अच्छा होना चाहिए, फिर साधन चाहे कैसा ही क्यों न हो। किन्तु यह जनता और राज्य-संचालकों—दोनों के ही लिए हानिकर

सिद्ध हुआ है।

बात बिल्कुल सीधी है। आप राज्य सत्ता के नियमों का उपयोग करके उससे लोगो के लिए अधिक स्वतंत्रता और अधिकार प्राप्त करना चाहते हैं। किन्तु शासको को सत्ता जितनी ही अधिक होती है, उतनी ही लोगों की स्वतत्रता और अधिकार कम होते है। इसके विपरीत लोगों को जितनी ही अधिक स्वतन्त्रता और अधिकार प्राप्त होंगे, उतनी ही कम सत्ता और सुविधा राज्य सत्ता को प्राप्त होगी। राज्य-सत्ता को इसका पता होता है और चूकि सत्ता उसके हाथ मे होती है, इसलिए वह हर किस्म के सुधारो की चर्चा होने देती है और कुछ ऐसे नगण्य सुधार कर भी देती है, जो उसकी सत्ता की आवश्यकता सिद्ध करते हैं, किन्तु जिन सुधारक प्रवृत्तियों से शासकों के विशेषाधिकारों में बाधा पडने का भय होता है, उनको वह तत्काल दबा देती है। अत: राज्य सस्थाओं और धारा सभाओं द्वारा जनता की सेवा करने के तमाम प्रयत्नों का यही परिणाम निकलेगा कि शासक वर्गो की सत्ता बढ जायगी और जितनी आप में प्रामाणिकता होगी, उसी के अनुसार आप जान या अनजान में उस सत्ता में हिस्सा लेगे। विद्यमान राज्य संस्थाओं के द्वारा जो लोग जनता की सेवा करना चाहते हैं, उनके लिए यही बात चरितार्थ होती है।

इसके विपरीत यदि आप अपनी गिनती उन प्रामाणिक लोगो में करते है जो क्रातिकारी अथवा समाजवादी प्रवृत्तियों के जरिये राष्ट्र की सेवा करना चाहते है तो पहले तो आप इस बात पर विचार कीजिये कि लोगो के जिस सासारिक हित साधन के लिए आप प्रयत्नशील हैं, वह उद्देश्य ही अधूरा है। वह आज तक किसीको सन्तुष्ट नही कर सका। दूसरा आप उन साधनों पर भी विचार कीजिए जो आपको अपने उद्देश्य सिद्धि के लिए सुलभ हैं। प्रथम तो ये साधन अनैतिक है। उनमें झूठ धोखा, हिंसा आदि का आश्रय लेना पड़ता है। अतः उनसे उद्देश्य कभी सिद्ध नहीं हो सकता। आजकल राज्य सत्ता की शक्ति और सतर्कता

इतनी बढ़ी-चढ़ी है कि धोखा-धड़ी अथवा हिंसात्मक कार्रवाही से उसका कोई बाल भी बांका नहीं कर सकता। जितने भी क्रांतिकारी प्रयत्न होते हैं, वे सत्ता के लिए हिंसात्मक कार्यवाही करने के नये कारण बन जाते हैं और उसकी ताकत को बढा देते हैं।

किन्तु यदि हम असम्भव को भी सम्भव मान लें कि आज-कल हिंसात्मक क्रांति सफल हो सकती है, तो सबसे पहले हम यह आशा कैसे करें कि आज तक की घटनाओं के विपरीत पुरानी सत्ता के स्थान पर स्थापित नई सत्ता जनता की शोभा को बढ़ाएगी और पहले की अपेक्षा ज्यादा कल्याणकारी सिद्ध होगी ? दूसरे, साधारण समझ और अनुभव के विपरीत यह मान भी लिया जाय कि सत्ता को मिटाने वाली दूसरी सत्ता जनता को इतनी स्वतन्त्रता दे सकती है कि वह अपने लिए सब से अधिक लाभदायक जीवन-व्यवस्था स्थापित करले तो भी यह मान लेने के लिए कोई कारण नही कि स्वार्थ-प्रेरित जीवन बिताने वाले लोग पहले से अच्छी व्यवस्था कायम कर सकते हैं।

डाहोमियो लोगों की रानी अत्यन्त उदार शासन विधान जारी करदे और श्रम के साधनों को राष्ट्रीय सम्पत्ति भी बना दे—जिसके द्वारा कि समाजवादियों की राय में लोगों की तमाम मुसीबतों का अन्त हो जायगा, तो भी शासन विधान पर अमल होने और श्रम के साधनों को व्यक्ति विशेष की सम्पत्ति न बनने देने के लिए किसी-न-किसी के हाथ में सत्ता का होना आवश्यक होगा। किन्तु जब तक डाहोमियो लोगों की जीवन बिषयक कल्पना नहीं बदलती, यह प्रकट है कि कुछ डाहोमी शेष डाहोमियों पर वैसा ही बल-प्रयोग करते रहेंगे जैसा कि वे शासन विधान और श्रम के साधनों के राष्ट्रीय-करण के अभाव में करते। समाजवादी संगठन स्थापित करने के पहले यह आवश्यक होगा कि डाहोमा लोग अपनी रक्तपात-प्रियता से मुख मोड़ लें।

मनुष्य बिना एक दूसरे को सताये समाज में रह सकें, इसके लिए पशु-बल पर आधार रखने वाले संगटन की आवश्यकता नहीं है। उसके

लिए तो नैतिक व्यवस्था की जरूरत है, जिसके अनुसार लोग दबाव के वश होकर नही, बल्कि आत्म-विश्वास के साथ दूसरों के प्रति वैसा ही व्यवहार करें जैसा कि वे चाहते हैं कि दूसरे लोग उनके साथ करें। ऐसे लोग अब भी मौजूद हैं। अमेरिका, रूस और कनाडा की ईसाई समाजों में उनको देखा जा सकता है। ये लोग पशु-बल द्वारा रक्षित कानूनो की मदद के बिना ही सामाजिक जीवन बिताते हैं और एक दूसरे को नही सताते।

अतः इस युग में हमारे ईसाई समाज का एक ही कर्तव्य है। उनको शब्द और कार्य से ईसाई शिक्षा पर अमल करना चाहिए। यही अन्तिम और सर्वोच्च धार्मिक शिक्षा है। हमको उस ईसाई शिक्षा की आवश्यकता नही, जो वर्तमान व्यवस्था को स्वीकार करती है और केवल बाह्य कर्म-काण्ड पर जोर देती है अथवा इस शिक्षा मे विश्वास करके सन्तोष कर लेती है कि प्रभु-कृपा से मुक्ति मिल जायगी। हमको तो उस जीवित ईसाइयत की जरूरत है जिसके अनुसार पशु-बल पर आधारित सत्ता में न केवल भाग ही नहीं लिया जा सकता, बल्कि उसका प्रतिरोध भी करना होता है। यदि यह सच है तो यह प्रकट है कि जो लोग अपने पड़ौसियों की सेवा करने के इच्छुक हैं, उन्हें नयी व्यवस्थायें स्थापित करने की ओर ध्यान नही देना है। उन्हे तो अपने और दूसरे लोगों के जीवन को बदलने और पूर्ण बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

जो लोग अन्यथा आचरण करते हैं, वे प्रायः यह सोचते हैं कि समाज व्यवस्था और मनुष्यो के जीवन-आदर्श और आचरण में साथ-साथ सुधार हो सकता है।

जब मनुष्य के जीवन-आदर्श और व्यवहार में परिवर्तन होता है तो अनिवार्यतः समाज व्यवस्था में भी परिवर्तन हो जाता है, किन्तु इसके विपरीत समाज व्यवस्था बदलने से न केवल मनुष्य के जीवन-आदर्श और व्यवहार में ही परिवर्तन नही होता, बल्कि लोगों का ध्यान और कार्य ग़लत दिशा में चले जाने के कारण उल्टे परिवर्तन होने में बाधा

पहुचती है। समाज व्यवस्था में परिवर्तन करके यह आशा करना कि उसके द्वारा मनुष्यों के आचार और आदर्श मे भी परिवर्तन हो जायगा, ठीक वैसा ही है जैसा कि यह मान लेना कि गीली लकड़ी आग पकड़ लेगी, यदि हम उसको चूल्हे मे इस या उस तरीके से रखेंगे। आग तो पकडेगी सूखी लकड़ी ही, चाहे हम उसको चूल्हे में किसी भी तरह क्यो न रक्खें।

यह बात बिल्कुल स्पष्ट है, फिर भी लोग गलती करते हैं, कारण मनुष्य के आचरण के सुधार की शुरूआत उसी के द्वारा होती है और उसके लिए उसको कठोर परिश्रम करना पड़ता है। इसके विपरीत दूसरों की जीवन-व्यवस्था बदलने के लिए खुद को अपने ऊपर परिश्रम नही करना पड़ता और यह कार्य बहुत महत्वपूर्ण और दूरवर्ती परिणाम लाने वाला प्रतीत होता है। यही खराबी की सब से बड़ी जड है और जो लोग ईमानदारी के साथ अपने पड़ौसियों की सेवा करना चाहते हैं उन्हे मैं सावधान कर देना चाहता हू कि वे उसके शिकार न बने।

* * *

लोग कम या ज्यादा सच्चे क्रोध मे आकर कहते हैं, "लेकिन जब हम अपने चारों ओर पीड़ित मनुष्यों को देखते हैं तो ईसाई धर्म का उपदेश और प्रचार करके चुप नही बैठ सकते। हम पीड़ितों की क्रियात्मक रूप से सेवा करना करना चाहते हैं। इसके लिए हम अपने परिश्रम और जीवन तक का बलिदान करने को तैयार हैं।" इन लोगों को मेरा यह उत्तर है कि आप यह कैसे जानते हैं कि जो उपाय आपको सब मे अधिक उपयोगी और व्यावहारिक प्रतीत होता है, उसीके द्वारा आपको लोगों की सेवा करनी है। आप जो कुछ कहते हैं, उसका तात्पर्य यह है कि आप यह निर्णय कर चुके है कि हम ईसाई धर्म के द्वारा मानव समाज की सेवा नही कर सकते और वास्तविक सेवा राजनैतिक कार्यों से ही हो सकती है, जिसकी ओर आप आकर्षित है।

सब राजनैतिक पुरुष ऐसा ही सोचते हं और वे सब एक दूसरे से

मतभेद रखते है और इसलिए वे सब के सब सही नही हो सकते। बहुत अच्छा होता यदि हरेक मनुष्य अपनी इच्छानुसार दूसरो की सेवा कर पाता, किन्तु बात ऐसी नही है। मनुष्यो की सेवा करने और उनकी अवस्था सुधारने का केवल एक ही मार्ग है और वह यह कि उस पर अमल किया जाय जिसके अनुसार मनुष्य को अपने को सुधारने का आन्तरिक प्रयत्न करना पड़ता है। व्यक्ति तभी सम्पूर्णता प्राप्त करेगा, जब वह मनुष्यो से परहेज न करता हुआ हमेशा स्वाभाविक रूप मे उनके बीच रहेगा और उनके साथ अधिक अच्छे और अधिकाधिक प्रेम पूर्ण सम्बन्ध स्थापित करेगा। मनुष्यो मे प्रेमपूर्ण सम्बन्ध स्थापित होने पर उनकी सामान्य अवस्था सुधरे बिना नही रह सकती। हां यह हो सकता है कि मनुष्य को यह पता न हो कि इस सुधार का रूप क्या होगा।

यह सच है कि राजकीय प्रवृत्तियों अर्थात् धारा सभाओ अथवा हिंसात्मक क्रान्तिकारी प्रवृत्तियो द्वारा सेवा करने मे हम जो परिणाम लाना चाहते है। उनको हम पहले से ही सोच लेते है। साथ ही हम आनन्द-दायक और विलासितापूर्ण जीवन की तमाम सुविधाओ से लाभ उठा सकते है, ऊचा पद प्राप्त कर सकते है, लोगो से प्रशसा पा सकते है और बड़ा नाम कमा सकते है। जो लोग ऐसे कामों मे पडते है, उन्हे कभी-कभी कष्ट भी उठाना पड़ता है। हर किस्म के संघर्ष मे ऐसे कष्ट सहन की सम्भावना रहती है, पर सफलता की सम्भावना से उसकी क्षति-पूर्ति हो जाती है। सैनिक कार्यो मे कष्ट झेलने और मौत तक की संभावना रहती है, किन्तु उनको वही लोग पसन्द करते है जिनमें बहुत थोडी नैतिकता होती है और जो स्वार्थमय जीवन व्यतीत करते है। इसके विपरीत प्रथम तो धार्मिक प्रवृत्ति का परिणाम हमको प्रतीत नही होता। दूसरे जब हम उसका आश्रय लेते है तो हमको बाह्य सफलता का मोह छोडना पडता है। उसके द्वारा न केवल उच्च पद और सम्पत्ति ही नही मिलती, बल्कि सामाजिक दृष्टिकोण से निम्नतम दर्जा मिलता है। न

केवल निरादर और निन्दा का पात्र बनना पड़ता है, बल्कि अत्यन्त निर्दय उत्पीड़न और मृत्यु तक का सामना करना पड़ता है। इस युग में जब धर्म विरोधी कार्य करने के लिए लोगों को पशु-बल द्वारा बाध्य किया जाता है, धार्मिक कार्य करना महा कठिन है, किन्तु धार्मिक कार्यों द्वारा ही मनुष्य को वास्तविक स्वतन्त्रता का भान होता है और यह निश्चय होता है कि वह अपने कर्त्तव्य का पालन कर रहा है। फल-स्वरूप इस प्रकार की प्रवृत्ति ही वास्तव मे परिणामकारी होती है। यह न केवल अपना सर्वोत्तम उद्देश्य ही सफल करती है, बल्कि सयोगवश और अत्यन्त स्वाभाविक एवं सीधे-साधे ढंग से वे परिणाम भी ला देती है जिनके लिए समाज सुधारक इतने अस्वाभाविक उपाय करते रहते है।

इस प्रकार मनुष्यों की सेवा करने का एक ही मार्ग है। वह यह कि मनुष्य सद्जीवन बिताये। यह उपाय काल्पनिक उपाय नही है, जैसा कि वे लोग समझते है, जिनको इससे लाभ नही पहुँचता। हाँ, इसके अतिरिक्त जो उपाय है, वे सभी काल्पनिक है। उनके द्वारा नेता लोग जनता को एक मात्र सही रास्ते से हटाकर गलत रास्ते भटका देते हैं।

+ + +

जो लोग इस आदर्श को जल्दी से व्यवहार में आता हुआ देखना चाहते है, वे कहते हैं, 'यदि इसी मार्ग से भला होना है तो वह होगा कब ?' बड़ा अच्छा हो यदि वह अति शीघ्र, तत्काल हो जाय। बड़ा अच्छा हो यदि हम अति शीघ्र, तत्काल जंगल खड़ा कर सके, पर हम ऐसा नही कर सकते। हमको तब तक धैर्य रखना होगा, जब तक बीज मे से अंकुर, अंकुर मे से पत्तियाँ और पत्तियों में से टहनियां निकल कर वृक्ष नही बन जाता। हम ज़मीन में टहनियां गाड़ सकते हैं और वे कुछ काल के लिए जंगल का दृश्य उपस्थित कर देंगी, किन्तु यह आखिर होगा कोरा दृश्य ही। अति शीघ्र उत्तम समाज व्यवस्था कायम करने के सम्बन्ध में भी यही बात है। हम उत्तम व्यवस्था का दिखावा कर सकते हैं, किन्तु ऐसे दिखावों से तो सच्ची व्यवस्था कायम होने की सम्भावना

कम ही होती है : प्रथम तो जहां उत्तम व्यवस्था न हो, वहां उत्तम व्यवस्था का चित्र बना कर लोगों को धोखा दिया जाता है, दूसरे उत्तम व्यवस्था के ये रूप सत्ता द्वारा बनते हैं और सत्ता शासक और शासित दोनों को पतित कर देती है और इसलिए सच्ची व्यवस्था कायम होने की सम्भावना और भी कम हो जाती है। अतः आदर्श को शीघ्र सिद्ध करने के प्रयत्न विफल हो जाते हैं और सिद्धि के मार्ग में बाधक भी बन जाते हैं।

हिंसा-रहित सुव्यवस्थित समाज की स्थापना—मानव जाति का यह आदर्श जल्दी सिद्ध होगा या देर में, यह इस पर निर्भर करता है कि कब जनता के शासक जो ईमानदारी के साथ लोगों की सेवा करना चाहते हैं, यह समझेंगे कि उनके मौजूदा कार्य ही सबसे अधिक मनुष्यों को उनके उद्देश्य की सिद्धि से दूर फेंक रहे हैं। वे पुराने अन्धविश्वासों को कायम रख कर, सब धर्मों को ठुकरा कर और लोगों को राज्य-सत्ता, क्रांति अथवा समाजवाद की उपासना करना सिखला कर उस उद्देश्य को सिद्ध करने की आशा नहीं कर सकते। जो लोग सच्चाई के साथ अपने पड़ोसियों की सेवा करना चाहते हैं, यदि वे केवल इतना समझ लें कि राज्य-सत्ता के समर्थकों और क्रांतिकारियों के तमाम साधन कितने निष्फल होते हैं, और यह कि लोगों को उनके कष्टों से मुक्ति दिलाने का एक ही मार्ग है और वह यह कि वे स्वार्थमय जीवन को तिलांजलि दे दें और भाईचारे का जीवन बिताने लगें—आज की तरह अपने पड़ोसियों पर बल-प्रयोग करने की सम्भावना और औचित्य को स्वीकार न करें और न अपने व्यक्तिगत उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उस बल-प्रयोग में कोई भाग लें, बल्कि इसके विपरीत जीवन में इस मूलभूत और सर्वश्रेष्ठ नियम का पालन करें कि हमको दूसरों के साथ वैसा ही बर्ताव करना चाहिए जैसा हम दूसरों से अपने लिए अपेक्षा रखते हैं—तो आज की विवेक रहित और निर्दय जीवन व्यवस्था का बड़ी जल्दी अन्त हो जायगा और उसके स्थान पर लोगों के नये संस्कारों के अनुसार नई व्यवस्था कायम हो जायगी।

ज़रा तो विचार कीजिए, जिस राज्य-संस्था की उपयोगिता नष्ट हो

चुकी है, उसकी सेवा करने और क्रांति से उसकी रक्षा करने में कितनी अधिक बौद्धिक शक्तियों का व्यय किया जा रहा है; असम्भव समाजवादी स्वप्नों को चरितार्थ करने के लिए कितनी शक्ति खर्च की जा रही है। जो लोग इस प्रकार बेकार अपनी शक्तियों को खर्च कर रहे हैं और बहुधा अपने पड़ोसियों को हानि पहुँचा बैठते है। यदि वे अपनी शक्तियों को आत्म विकास के निमित्त लगावें, जिसके द्वारा कि उत्तम समाज व्यवस्था कायम हो सकती है, तो कितना अच्छा हो ?

एक पुराने मकान को खड़ा रखने के किए जो प्रयत्न किये जा रहे हैं, यदि वही प्रयत्न नया मकान बनाने और उसके लिए सामग्री तैयार करने के लिए दृढतापूर्वक और बुद्धिपूर्वक होने लगे तो नवीन ठोस सामग्री से हम कितने मकान न खड़े कर लेगे ? हा यह हो सकता है कि नया मकान कुछ चुने हुए लोगो के लिए पुराने मकान की तरह आराम-देह और सुविधाजनक न हो, परन्तु वह अधिक स्थायी अवश्य होगा और उसमें वे सब सुधार हो सकेगे जो कुछ चुने हुए लोगों के लिए ही नही, बल्कि तमाम मनुष्यों के लिए आवश्यक होगे।

अत: यहां मैंने जो कुछ कहा है वह सरल, सबकी समझ में आने योग्य और अखंडनीय सत्य है। वह यह कि मनुष्यों में उत्तम जीवन की स्थापना करने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य पहले स्वयं उत्तम बने।

लोगों को अच्छे जीवन की ओर प्रेरित करने का एक ही मार्ग है और वह यह कि मनुष्य खुद अच्छा जीवन बितावे। इसलिए जो लोग मनुष्य समाज मे उत्तम व्यवस्था कायम करने में सहायक बनना चाहते है, उन्हें आत्म-विकास के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। उन्हे बाइबिल की इस शिक्षा को चरितार्थ करना चाहिए कि—

"अपने परम पिता परमात्मा के समान पूर्ण बनो।"

: ६ :

समाजवाद

विलासिता को छोड़ देना चाहिए। जब तक धन बल और अवि-

प्कारों का प्रयोग अनावश्यक बातों के लिए किया जाता रहेगा तब तक कुछ न होगा। और यह जानने के लिए कि जनसाधारण के लिए क्या आवश्यक है, हमको हर वस्तु की परीक्षा कर लेना चाहिए।

मुख्य बात यह है कि निर्दय विषमताओं को, जो हमारे लिए अभिशाप रूप है, सहन करने के बजाय हमको अपनी सभ्यता के समस्त सुधारों को छोड़ने के लिए तैयार हो जाना चाहिए। यदि मै वास्तव में अपने भाई से प्रेम करता हूँ तो जिस समय वह घर-बार विहीन हो, मै उसको आश्रय देने के लिए अपनी बैठक खाली कर देने मे संकोच न करूगा। किन्तु अभी स्थिति यह है कि हम यह कहते तो है कि हम अपने भाई को आश्रय देना चाहते है, किन्तु इसी शर्त पर कि आने-जाने वालों के लिए हमारी बैठक खाली रहे। हमको यह निर्णय कर लेना चाहिए कि हमको किसकी पूजा करनी है—परमात्मा की या शैतान की। दोनों की एक साथ पूजा नही की जा सकती। यदि हमको परमात्मा की पूजा करनी है तो हमको भोग विलास और सभ्यता का मोह छोड़ना होगा। हम उनको फिर अपना सकते है, किन्तु तभी जब सर्व-साधारण समान रूप से उनका लाभ उठा सके।

सबसे अधिक लाभदायक सामाजिक व्यवस्था, चाहे वह आर्थिक हो अथवा अन्य प्रकार की, वह होगी, जिसमे हरेक व्यक्ति दूसरों के भले का विचार करेगा और खुले दिल से उसके लिए अपनी शक्तियां खर्च करेगा। यदि सबकी यही मनोवृत्ति हो तो हरेक का अधिक से अधिक भला हो सकता है। इसके विपरीत सबसे हानिकर मानव सगठन, आर्थिक अथवा अन्य प्रकार का वह है जिसमे प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने ही लिए कार्य करता है, अपनी ही चिन्ता रखता है और अपने ही लिए सामग्री जुटाता है। यदि सब लोग ऐसा ही करने लगे और कम-से-कम कुटुम्बों का भी अस्तित्व न हो, जिनमे लोग एक दूसरे के लिए कार्य करते है, तो मेरा ख़याल है कि मनुष्य जीवित नही रह सकता।

परन्तु लोगों को दूसरे का हित साधन करने की इतनी चिन्ता नही।

इसके विपरीत हरेक व्यक्ति दूसरो को नुकसान पहुंचाकर भी अपना ही हित साधन करने की कोशिश करता है। किन्तु यह अवस्था इतनी हानिकर है कि मनुष्य जीवन-सघर्ष मे अति शीघ्र निर्बल पड जाता है। और तब सम्भवतः एक आदमी दूसरो पर अधिकार जमा लेता है और उनसे अपने लिए काम कराता है। परिणाम यह निकलता है कि लाभ-रहित व्यक्तिगत श्रम के बदले अधिक लाभदायक श्रम होने लगता है।

किन्तु मनुष्यो के ऐसे सगठनों मे विषमता और उत्पीडन का जन्म होता है। इसलिए लोग समानता स्थापित करने और मनुष्यो को आजादी दिलाने के प्रयत्न कर रहे हैं। वे सहयोग समितियों आदि की स्थापना करते है और राजनैतिक अधिकारो के लिए लडते है। समानता स्थापित करने का हमेशा यह परिणाम निकलता है कि काम को नुकसान पहुंचता है। बराबर-बराबर वेतन देने के लिए सर्वश्रेष्ठ श्रमिक को निकृष्टतम श्रमिक के बराबर ला बिठाया जाता है। उपयोग की चीजों का इस तरह बंटवारा किया जाता है कि एक को दूसरे से अधिक या अच्छी चीजे नही मिलती। जमीन के बंटवारे मे भी यही हो रहा है। यही कारण है कि जमीन छोटे-छोटे टुकड़ो मे बॅटती जा रही है, जो सभी के लिए हानिकर है। राजनैतिक अधिकारों द्वारा उत्पीडन से मुक्त होने की कोशिश के फलस्वरूप लोगो मे पहले से भी अधिक उत्तेजना और दुर्भाव फैल रहे हैं। इस प्रकार समानता स्थापित करने और उत्पीड़न से मुक्ति पाने के प्रयत्न हो रहे हैं, जो अभी तक सफल नही हुए है। दूसरी ओर एक व्यक्ति का अधिक से अधिक जनसख्या पर आधिपत्य बढता ही जा रहा है। श्रम का जितना ही केन्द्रीकरण होता है, उतना ही वह लाभदायक बन जाता है। किन्तु साथ ही विषमता भी उतनी ही चुभने वाली और असहनीय कायम हो जाती है। तो फिर ऐसी दशा मे क्या किया जाय ? व्यक्तिगत श्रम लाभ रहित होता है, केन्द्रीय श्रम अधिक लाभ रहित होता है। किन्तु उसके साथ विषमता और उत्पीड़न भी कम भयंकर नही होते।

समाजवादी समस्त सम्पति को राष्ट्र की, मानवता की सम्पत्ति बना

कर असमता और उत्पीड़न का अन्त करना चाहते है जिससे कि केन्द्रीभूत सघ स्वयं मानव समाज बन जाय। पहले तो मानव समाज ही नही, विभिन्न राष्ट्र भी इसकी आवश्यकता को स्वीकार नही करते। दूसरे जहाँ सब लोग अपने-अपने हितो के लिए प्रयत्नशील हो उस मानव-समाज मे ऐसे व्यक्ति कहा मिलेगे जो निस्वार्थभाव से मानव-सम्पत्ति की व्यवस्था करे और अपनी सत्ता द्वारा अनुचित लाभ न उठावे अथवा दुनिया मे पुन असमानता और उत्पीड़न को जन्म न दे।

अत मानवता के सम्मुख यह समस्या नग्न रूप मे उपस्थित है। या तो केन्द्रीय श्रम द्वारा प्राप्त प्रगति को छोडा जाय—समानता में बाधा पहुँचने देने अथवा उत्पीडन को सहन करने के बजाय पीछे की ओर भी भले ही हटा लिया जाय या यह स्वीकार कर लिया जाय कि असमानता और उत्पीड़न तो रहेगे ही, जब लकडी को चीरा फाड़ा जायगा तो खप्पचे उडेगी ही, उत्पीडित लोगों का अस्तित्व रहेगा ही और सघर्ष करना मानव समाज का नियम है। कुछ लोग वास्तव मे ऐसा मानते भी है, किन्तु साथ ही साथ अधिकार रहित लोगो की चीख-पुकार, पीडितों के क्रन्दन और अन्याय पर क्रुद्ध हो उठने वाले लोगों की सत्य और शुभ आदर्श के नाम पर, जिसको हमारा समाज केवल नाम के लिए ही स्वीकार करता है, आवाज तीव्र से तीव्र होती जा रही है।

परन्तु यह बात एक बच्चे की समझ मे भी आ सकती है कि यदि प्रत्येक व्यक्ति सर्व साधारण के हित-साधन की चिता करे और हरेक की एक कुटुम्ब की हैसियत से योग्य व्यवस्था की जाय तो सब का सब से अधिक हित साधन हो सकता है। पर चूकि ऐसा होता नही है, हरेक के दिल मे बैठा नही जा सकता, और सबको समझा सकना भी असम्भव बात है। कम से कम उसके लिए बहुत लम्बा समय चाहिए, इसलिए एक ही मार्ग रह जाता है। वह यह कि श्रम को केन्द्रित किया जाय, जो कि कुछ लोगों के सर्व साधारण पर आधिपत्य होने के कारण सम्भव हो रहा है और साथ ही नगे-भूखो की दृष्टि से जवानों के राग-रग को

छिपाया जाय ताकि वे उस पर आक्रमण न कर सकें, और उत्पीड़ितों को सहायता पहुँचाई जाय। आज यही हो रहा है, किन्तु पूजी का केन्द्रीकरण भी बढता जा रहा है और असमानता तथा उत्पीड़न भी बढते जा रहे हैं और अधिक कठोर हो रहे हैं। इसके साथ ही वस्तु स्थिति का ज्ञान भी व्यापक हो रहा है और असमानता और उत्पीड़न की निर्दयता उत्पीड़कों और उत्पीड़ितों दोनों पर ही अधिकाधिक प्रकट होती जा रही है।

इस दिशा मे और आगे बढना असम्भव होता जा रहा है, इसलिए जो लोग थोडा सोचते हैं और तर्क-युक्त परिणामों को नही देखते, यह काल्पनिक उपाय सुझाते हैं कि ज्यादा हित साधन करने के लिए लोगो को सहयोग की आवश्यकता का भान कराया जाय, किन्तु यह बेकार बात है। यदि अपना अधिकाधिक हित साधन करना ही उद्देश्य हो तो पूजी-वादी समाज संगठन मे प्रत्येक व्यक्ति उसे सिद्ध कर सकता है, और इसलिए ऐसे प्रयत्नो का परिणाम बातो के अतिरिक्त कुछ नही निकलता।

सब लोगो के लिए अत्यन्त लाभकारी संगठन तब तक कायम नही हो सकता, जब तक प्रत्येक आदमी का उद्देश्य भौतिक हित साधन करना रहेगा। वह तो तभी सम्भव होगा जब सब लोग उस ध्येय को सिद्ध करने का प्रयत्न करेंगे जो भौतिक सुख से बिल्कुल अलग है और जब हरेक व्यक्ति दिल से यह कहेगा—"धन्य हैं वे, जो गरीब हैं, धन्य हैं वे जो आंसू बहाते हैं और धन्य हैं वे, जो सताये जाते हैं। जब प्रत्येक व्यक्ति भौतिक नही, बल्कि आध्यात्मिक कल्याण की कामना करेगा—और यह हमेशा बलिदान द्वारा अंकित होता है—तभी सब लोगों का अधिक से अधिक कल्याण हो सकेगा।

यह सीधा-सा उदाहरण लीजिए। लोग एक साथ रहते हैं। यदि वे नियमित रूप से सफाई रखे, अपनी सफाई खुद करें तो सार्वजनिक सफाई के लिए हरेक को बहुत थोडा श्रम करना पड़े। किन्तु यदि हरेक आदमी अपनी सफाई का काम दूसरों पर छोड़ दे तो जो उस स्थान को स्वच्छ

रखना चाहे वह क्या करेगा ? उसको सबका काम खुद करना पड़ेगा और गन्दगी मे लिपटना होगा। यदि वह ऐसा न करे, केवल अपना ही काम करे तो उसका उद्देश्य पूरा न होगा। अवश्य ही वह आसानी के साथ दूसरों को आज्ञा दे सकता है, किन्तु उनमें कोई ऐसा नही है जो आज्ञा दे सके। ऐसी दशा मे एक ही मार्ग रह जाता है और वह यह कि वह दूसरों के लिए काम करे। और वस्तुतः जिस दुनिया में सब लोग अपनी-अपनी चिन्ता करते हों यह असम्भव है कि दूसरों का थोडा सा काम कर देने से काम चल जाय। उसमें तो आदमी को अपने को सम्पूर्णत समर्पित कर देना चाहिए। धर्म भावना से प्रकाशित अन्त.करण ठीक यही करने का आदेश देता है।

क्या कारण है कि न तो राजकीय बल-प्रयोग द्वारा और न क्राति और राजकीय साम्यवाद द्वारा और न ही ईसाई समाजवादियों द्वारा प्रचारित साधनों से—अर्थात लोगो मे यह अधिकाधिक प्रचार किया जाय कि वह व्यवस्था अधिक लाभदायक होगी—पृथ्वी पर स्वर्ग की स्थापना होती है ? जब तक मनुष्य का उद्देश्य अपने व्यक्तिगत जीवन का कल्याण रहता है तब तक कोई भी उसको नही रोक सकता कि उसको अपना न्याय्य हिस्सा मिल चुका है और आगे उसे अपना सघर्ष बन्द कर देना चाहिए अथवा मनुष्यों को ऐसी मागों से आगे न बढ़ना चाहिए, जो सब लोगो के कल्याण के लिए आवश्यक हों। कोई भी व्यक्ति ऐसा नही कर सकता, कारण पहले तो मालूम करना ही असम्भव होगा कि कौन सी जगह पहुँचने के बाद पूरा न्याय हो गया—मनुष्य हमेशा अपनी आवश्यकताओ को बढ़ा-चढाकर बतायगे—और दूसरे यदि उचित जरूरतो को मालूम करना सम्भव भी हो तो मनुष्य जो उचित है केवल उसी के लिए माग पेश नही कर सकता, क्योकि उतना उसे मिलेगा ही नहीं, वह उससे कही कम पा सकेगा। समाज के दूसरे लोगों की जरूरते न्याय के आधार पर नही; बल्कि व्यक्तिगत लाभ के खयाल से निश्चित होंगी, उस अवस्था मे यह प्रकट है कि हरेक प्रथक व्यक्ति की आवश्यकताओं

की पूर्ति न्याय्य मांगों की अपेक्षा प्रतिस्पर्द्धा और संघर्ष के द्वारा अधिक हो सकेगी। ऐसा इस समय हो भी रहा है।

न्यायपूर्ण स्थिति कायम करने के लिए, जब कि लोग व्यक्तिगत हित-साधन के लिए ही सचेष्ट हैं, ऐसे लोगो की ज़रूरत होगी जो यह निश्चय कर सके कि न्यायत. हरेक के हिस्से मे कितनी सामारिक वस्तुए आनी चाहिए। ऐसे सत्तावान लोगों की भी आवश्यकता होगी जो लोगो को अपने न्याय हिस्से से अधिक न लेने दे। आज भी ऐसे लोग है और पहले भी हुए है जिन्होंने यह कर्त्तव्य अपने सिर पर लिया है। ये और कोई नही हमारे शासक ही है। किन्तु अभी तक न तो सल्तनतो मे और न प्रजातत्रो मे ऐसे व्यक्ति पाये गये जिन्होंने वस्तुओ की मात्रा निर्धारित करने और उनको लोगो मे वितरित करने में अपने और अपने साथियों के लिए सीमा का उल्लघन न किया हो और इस प्रकार उस काम को न बिगाड़ा हो जिसे करने का भार दूसरों ने उनको सौंपा था अथवा जो भार स्वयं उन्होने अपने सिर पर लिया था इसलिए इस साधन को सभी लोग असन्तोषजनक मानने लगे है। किन्तु अब कुछ लोग यह कहते है कि वर्तमान राज्य सगठनों के बजाय दूसरी किस्म के सगठन कायम किये जाएं, जो मुख्यत. आर्थिक मामलों का नियत्रण करे। यह सगठन इस बात को स्वीकार करे कि समस्त सम्पत्ति और जमीन सार्वजनिक है। ये मनुष्यों के श्रम की व्यवस्था करेगे और उस श्रम के अनुसार अथवा जैसा कि कुछ कहते है उनकी आवश्यकताओं के अनुसार भौतिक सुख-साधनों का विभाजन करेंगे।

इस प्रकार के सगठन कायम करने के सभी प्रयत्न अब तक निष्फल रहे है। किन्तु इन प्रयोगों के बिना भी यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत हित साधन के लिए प्रयत्नशील मानव समाज मे इस प्रकार के संगठन नही बन सकते। कारण जो लोग आर्थिक मामलों की देख-भाल करेंगे उनमे से बहुत से ऐसे आदमी होंगे, जिन्हें अपने व्यक्तिगत हितों की चिन्ता होगी और ऐसे ही लोगों से वास्ता भी पड़ेगा,

इसलिए नई आर्थिक व्यवस्था स्थापित करने और उसे जारी रखने का कार्य करते हुए वे अनिवार्यत. पुराने शासको की भाति अपना व्यक्तिगत हित-साधन करेंगे और इस प्रकार उस कार्य का असली उद्देश्य ही नष्ट कर देंगे, जो कि उनके सिपुर्द किया गया है।

कुछ लोग कहेंगे—"ऐसे आदमियो को चुनो, जो बुद्धिमान और शुद्ध हृदय हो।" किन्तु जो बुद्धिमान और शुद्ध हृदय होंगे वही तो बुद्धिमान और शुद्ध हृदय व्यक्तियो का चुनाव करेंगे। और यदि सभी बुद्धिमान और शुद्ध हृदय वाले हो, तो किसी सगठन की आवश्यकता ही न रह जायगी। इसलिए क्रातिकारी समाजवादी जो कुछ कहते है, उसकी अशक्यता को वे स्वय भी स्वीकार करते है। यही कारण है कि उनका सिद्धात असामायिक और सफल नही हुआ।

अब ईसाई समाजवाद की शिक्षा को लीजिए। उसका मुख्य अस्त्र यह है कि लोगो के अन्तःकरण को प्रभावित करने के लिए उनमें प्रचार किया जाय। किन्तु यह शिक्षा तभी सफल हो सकती है जब सब लोग सामुदायिक श्रम के फायदो को साफ-साफ समझ ले और यह अनुभूति सब लोगों को साथ-साथ हो जाय। किन्तु जैसा कि प्रकट है दोनो में से एक भी बात नहीं हो सकती, इसलिए वह आर्थिक सगठन जो प्रतिस्पर्द्धा और सघर्ष का नही बल्कि सामुदायिक हितो पर निर्भर हो कार्य रूप में परिणत नही हो सकता।

अतः जब तक मनुष्यो का उद्देश्य व्यक्तिगत हित-साधन रहेगा, तब तक वर्तमान की अपेक्षा उसमें संगठन कायम न हो सकेगा।

ईसाई समाजवाद का जो लोग प्रचार करते है वे यह भूल करते है कि वे अपने धर्म शास्त्रों से केवल सार्वजनिक कल्याण के व्यावहारिक परिणाम को ही लेते हैं, किन्तु यह उन धर्म-शास्त्रो का उद्देश्य नही हैं। वह तो सिर्फ यह बताता है कि अमुक मार्ग सही है। ये धर्म शास्त्र जीवन का मार्ग बताते है और इस मार्ग पर चलने से भौतिक सुख की प्राप्ति भी हो जाती है। भौतिक सुख मिलना अवश्य है किन्तु लक्ष्य यह नही है। यदि

इन धर्म-शास्त्रों का उपदेश भौतिक सुख ही हो तो वह भौतिक सुख नहीं मिल सकता। उनका लक्ष्य तो अधिक ऊचा और दूरवर्ती है। वह भौतिक सुख पर निर्भर नही करता। आत्मा की मुक्ति अर्थात मानव शरीर में जो दैवी तत्व निहित है, उसकी मुक्ति वह उद्देश्य है। व्यक्तिगत जीवन का त्याग करने से ही यह मुक्ति मिलती है। दूसरे शब्दों में भौतिक सुखों का त्याग करना चाहिए और अपने पड़ौसियों के हित-साधन के लिए सचेष्ट होना चाहिए। प्रेम के द्वारा इस उद्देश्य को सिद्ध करना चाहिए। ऐसे प्रयत्न के फल-स्वरूप ही मनुष्य संयोगवश सब लोगों का सर्वश्रेष्ठ हित सिद्ध कर सकेगा अर्थात पृथ्वी पर स्वर्ग की स्थापना कर सकेगा। व्यक्तिगत हित साधन की चेष्टा से न तो व्यक्ति का और न सार्वजनिक हित सिद्ध होगा। आत्म विस्मृति की कोशिश से व्यक्तिगत और सार्वजनिक दोनों प्रकार के हित सम्पन्न होंगे।

× × ×

सिद्धान्तत मानव समाज का सगठन तीन प्रकार से हो सकता है। प्रथम तो यह कि सर्वश्रेष्ठ, ईश्वर-भक्त व्यक्ति लोगो के लिए ऐसा कानून बनाये जिससे मानव समाज का अधिक से अधिक कल्याण हो सके और अधिकारी इस कानून का लोगो से पालन कराये। यह उपाय काम मे लाया जा चुका है। उसका परिणाम यह निकला कि कानून का पालन कराने वाले अधिकारियो ने अपनी सत्ता का दुरुपयोग किया और कानून की अवहेलना की। ऐसा केवल उन्होंने ही नही किया, बल्कि उनके सहयोगियों ने भी किया, जिनकी तादाद काफी होती है। इसके बाद दूसरी योजना सामने आई। इसमे अधिकारियो की कोई आवश्यकता नही समझी गई और यह कहा गया कि जब हरेक व्यक्ति अपने-अपने हित की चिता करेगा तो न्याय की स्थापना हो जायगी। किन्तु यह योजना भी दो कारणों से सफल न हुई। पहला कारण यह कि सत्ता को क़ायम रखा गया और लोग यह समझते रहे कि उसको कायम रखना पड़ेगा। कारण उत्पीड़न फिर भी जारी रहेगा ही, और सरकार डाकू को पकड़ने में

अपनी सत्ता का उपयोग न करेगी और न डाकू ही डकैती से विरत होगा। जहां अधिकारियों का अस्तित्व होता है, अपने-अपने हितों के लिए लड़ने वाले लोगों की अवस्था समान नही होती; केवल यही नही कि कुछ लोग दूसरों की अपेक्षा अधिक बलवान होते हैं, बल्कि लोग अपने को बलवान बनाने के लिए सत्ता की मदद भी लेते हैं। दूसरे जहां सब लोग अपने-अपने हितों के लिए सघर्ष करते है, एक आदमी को ज़रा-सी भी सुविधा मिल जाती है तो वह उससे कई गुना लाभ उठा सकता है और फलतः असमानता का उत्पन्न होना अनिवार्य हो जाता है। एक तीसरा सिद्धांत और रह जाता है। वह यह कि मनुष्य दूसरों के हितों की चिंता करना लाभदायक समझने लगेगे और उस दिशा में प्रयत्नशील होंगे। ईसाई धर्म का यही सिद्धान्त है। पहली बात तो यह कि इस सिद्धांत पर अमल होने के मार्ग में कोई बाह्य अड़चने पैदा नहीं होतीं। चाहे सरकार पूजी वगैरा और सारी की सारी वर्तमान व्यवस्था रहे या न रहे, जिस घड़ी मनुष्यों की जीवन-कल्पना ऐसी हो जायगी, उस घड़ी यह उद्देश्य सिद्ध हो जायगा। दूसरे इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए कोई खास समय की आवश्यकता नही। कारण हर वह व्यक्ति जो इस जीवन-कल्पना को अपना लेगा, और दूसरों का हित-साधन करने में अपने को लगा देगा, वह उसी क्षण से सार्वजनिक हित सिद्ध करने लगेगा। तीसरे मानव जीवन के इतिहास के शुरू से ही यह बात होती आई है।

\+ \+ \+

समाजवादी कहते है--संस्कृति और सभ्यता की जो सामग्री हमको मिली हुई है, उसको छोड़ना हमारे लिए आवश्यक नही है। यह भी आवश्यक नही है कि हम असस्कृत जन-समुदाय की सतह पर पहुंच जायं। हम तो यह चाहते है कि जो लोग सांसारिक सुख-साधनों से वचित हैं, उनको अपनी सतह पर ले आयें और सभ्यता और संस्कृति के वरदानों में उनको भी साझीदार बनावें। विज्ञान की सहायता से हम यह कार्य सम्पादित कर सकते हैं। विज्ञान हमको प्रकृति पर विजय प्राप्त करने का

मार्ग बताता है। उसके द्वारा हम प्रकृति की उत्पादन शक्ति को बहुत बढ़ा सकते हैं। विद्युत के जोर से हम नियागरा प्रपात और नदियों तथा वायु की शक्तियों का उपयोग कर सकते हैं। सूर्य अपना काम करेगा और सब लोगों के लिए सब चीजों की बहुतायत होगी। आज तो मानव-समाज के एक बहुत थोड़े हिस्से को, जो अधिकारारूढ़ है, सभ्यता के लाभ सुलभ हैं और शेष भाग उनसे वंचित है। सुख-साधनों को बढ़ाओ और वे सबके लिए सुलभ हो जायगे।" किन्तु सच यह है कि अधिकार संम्पन्न व्यक्ति अनन्त काल से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति ही नही कर रहे, बल्कि जो कुछ वे प्राप्त कर सकते हैं, सबको हड़प कर जाते हैं, जिसकी उन्हें ज़रूरत भी नही होती। इसलिए सुख-सामग्री में चाहे जितनी वृद्धि क्यों न हो जाय, अधिकारारूढ व्यक्ति उस सबको हड़प कर जायंगे।

कोई भी व्यक्ति आवश्यक वस्तुओं का एक सीमा के भीतर ही उपयोग कर सकता है, किन्तु भोग-विलास की कोई सीमा नहीं होती। हजारों मन अनाज घोड़ों और कुत्तों के लिए काम में लिया जा सकता है, लाखों एकड़ जमीन में बगीचे लगाये जा सकते हैं और इस प्रकार की अनेक बातें की जा सकती हैं। आज यही हो भी रहा है। इस प्रकार जब तक उच्च-वर्गों के हाथ में सत्ता है और वे अतिरिक्त सम्पत्ति को भोग विलास पर खर्च करने की इच्छा रखते हैं तब तक शक्ति और सम्पति की मात्रा चाहे कितनी ही क्यों न बढ जाय, निम्न वर्गों के सुख-साधनों में रत्ती भर वृद्धि न होगी। इसके विपरीत उत्पादन शक्ति के बढने और प्रकृति पर प्रभुत्व स्थापित होने के फलस्वरूप उच्च वर्गों को, अधिकारारूढ़ व्यक्तियों को और भी सत्ता प्राप्त हो जाती है जिसके द्वारा वे श्रमजीवी वर्गों को अपनी सत्ता के अधीन रख सकते हैं। और निम्न-वर्ग धनवानों से सम्पत्ति का हिस्सा बंटाने के लिए जितने प्रयत्न करते हैं—क्रान्तियां, हड़तालें आदि उतना ही संघर्ष बढ़ता है और संघर्ष से सम्पत्ति का नाश होता है। लड़ने वाले दल कहते हैं—यदि हम को सुख-सामग्री नहीं मिलती तो दूसरों को

क्यों मिले ?

दुनिया में सुख-सामग्री की नदी बहाने के लिए, जिससे हरेक को उसका हिस्सा प्राप्त हो सके, प्रकृति पर विजय प्राप्त करना और भौतिक सम्पत्ति को बढ़ाना ठीक वैसा ही बुद्धिरहित कार्य है, जैसा कि एक खुले मकान को गर्म करने के लिए चूल्हे में अंधाधुंध लकड़ी जलाना। आप चाहे जितनी आग जलाइये, ठण्डी हवा गर्म होकर ऊपर उड़ जायगी और उसका स्थान ठण्डी हवा ले लेगी और इस प्रकार मकान में समान रूप में गर्मी न फैल सकेगी। यह स्थिति तब तक रहेगी, जब तक ठण्डी हवा का आना और गर्म हवा का बाहर निकलना बंद नही होगा।

अब तक जो तीन उपाय सूचित किये गये हैं वे सब इतने मूर्खता पूर्ण हैं कि यह कहना कठिन है कि उनमे सबसे अधिक मूर्खतापूर्ण उपाय कौनसा है।

पहला उपाय क्रान्तिकारियों का है। वे उच्च वर्गों को मिटा ही डालना चाहते हैं जो कि सारी सम्पत्ति को चट कर जाते हैं। वह तो ऐसी बात हुई कि जिस चिमनी से गर्मी बाहर निकल रही हो, उस चिमनी को ही तोड़ डाला जाय और यह आशा की जाय कि जब चिमनी न होगी तो गर्मी भी बाहर न निकलेगी। पर यदि प्रवाह यही रहा तो चिमनी की जगह जो सूराख हो जायगा, उससे गर्मी ज्यों की त्यों निकलती रहेगी। इसी तरह जब तक सत्ता अवशिष्ट रहेगी, सम्पत्ति भी अधिकार सम्पन्न व्यक्तियों के पास जाती रहेगी।

दूसरा उपाय बिलहेम कैसर ने आजमाया। उसने वर्तमान व्यवस्था को कायम रखते हुए उच्च वर्गों के पास केन्द्रिय धन का थोड़ा सा भाग लेकर दरिद्रता के असीम गर्त में डाला। यह तो ऐसी बात हुई कि कोई व्यक्ति चिमनी के सिरे पर, जहाँ से गर्मी निकल रही है, पंखे लगवा दे और उनकी सहायता से गर्म हवा को नीचे ठंडी सतह तक पहुँचाने का प्रयत्न करे। स्पष्ट है कि यह कार्य कठिन और बेकार है, कारण गर्मी नीचे से ऊपर को जाती है और कोई उसको नीचे की ओर धकेलने का

चाहे जितना प्रयत्न क्यों न करे, उसको ज्यादा दूर नीचे नहीं धकेल सकता; वह एकदम ऊपर की ओर उठ आयेगी और इस प्रकार सारा प्रयत्न निरर्थक जायगा।

तीसरा और अन्तिम उपाय वह है जिसका आज कल अमेरिका में विशेष रूप से प्रचार किया जा रहा है। इसका आशय यह है कि जीवन को प्रतिस्पर्द्धात्मक और व्यक्तिवादी आधार के बजाय साम्यवादी सिद्धान्त की स्थापना की जाए और लोग संगठन और सहयोग के सिद्धान्त के आधार पर काम करें। शब्द और कार्य दोनों से सहयोग की शिक्षा दी जाय। इसके समर्थक कहते हैं कि प्रतिस्पर्द्धा, व्यक्तिवाद और संघर्ष से शक्ति और फलस्वरूप सम्पत्ति का बड़ा क्षय हो रहा है। इसकी अपेक्षा सहयोग के सिद्धान्त द्वारा कहीं अधिक लाभ उठाया जा सकता है। अर्थात हरेक व्यक्ति सामुदायिक हित के लिए कार्य करे और बाद में उसको सामुदायिक सम्पत्ति का अपना हिस्सा मिल जाय। यह बात हरेक व्यक्ति के लिए पहले से अधिक लाभ कर सिद्ध होगी। यह सबसे बड़ी बढ़िया बात है, किन्तु इसका निकृष्ट पहलू भी है। वह यह कि प्रथम तो यह कौन जानता है कि जब सम्पत्ति का समान विभाजन होगा तो हरेक व्यक्ति का हिस्सा क्या होगा ? इसके अलावा हरेक व्यक्ति का हिस्सा चाहे जितना हो; लोग आज-कल जैसी जिन्दगी बिता रहे हैं, उसको देखते हुए वह हिस्सा उनको अपर्याप्त ही मालूम होगा। "सब कुछ अच्छा ही होगा और आपको दूसरों के समान ही उपभोग करने का अवसर मिलेगा।"—किन्तु मैं तो दूसरों के समान नहीं रहना चाहता; मैं उससे अच्छा जीवन बिताना चाहता हूँ। मैं हमेशा दूसरों से अच्छी दशा में रहा हूँ और मैं वैसे जीवन का अभ्यस्त हो चुका हूँ।"—और जहां तक मेरा सम्बन्ध है, मैं औरों की अपेक्षा निकृष्ट हालत में रहा हूँ और अब मैं वैसा ही जीवन बिताना चाहता हूँ जैसा कि दूसरे बिताते आये हैं।" यह उपाय सबसे ज्यादा निकम्मा है। कारण उसमें यह मान लिया गया है कि हम जब ऊपर की ओर बढ़ने का प्रयत्न करते हैं, सर्वश्रेष्ठ स्थिति प्राप्त करना चाहते है

तो हमारे खयाल से वायु के परमाणुओं को गर्मी की मात्रा के अनुसार ऊपर उठने से रोका जा सकता है।

यदि कोई उपाय है तो वह यह है कि लोगों को उनके वास्तविक कल्याण का दिग्दर्शन कराया जाय। उनको बताया जाय कि सम्पत्ति वरदान नहीं है। उल्टे वह तो वास्तविक कल्याण पर पर्दा डालकर मनुष्यों को उससे विमुख करती है।

इसका केवल एक ही उपाय है। वह यह है कि सांसारिक इच्छाओं रूपी छिद्र को कैसे बन्द किया जाय। इसीके द्वारा सर्वत्र समान उष्णता पहुँचेगी। किन्तु समाजवादी ठीक इसके विपरीत बात कहते हैं और कहते हैं कि पैदावार बढ़ाने की कोशिश करने से समाज की सम्पत्ति में वृद्धि होती है।

: १० :

अराजकतावाद

अराजकतावादी जो कुछ कहते हैं, वह सही है। वर्तमान व्यवस्था हमारे लिए मान्य नहीं हो सकती। उनका यह कथन भी ठीक है कि मौजूदा परिस्थितियों में सत्ता के होते हुए जो हिंसा होती है, उससे अधिक हिंसा सत्ता का अस्तित्व न रहने पर न होगी। उनकी सिर्फ यही धारणा गलत है कि अराजकता क्रांति के द्वारा कायम की जा सकती है। उसकी स्थापना तो तभी हो सकती है जब ऐसे लोगों की संख्या अधिकाधिक बढ़ती जायगी जो सत्ता के संरक्षण की आवश्यकता महसूस न करेंगे और उसका सहारा लेने मे लज्जा अनुभव करेंगे।

"पूंजीपति-संगठन श्रमजीवियों के हाथों मे चला जायगा। उस समय इन श्रमजीवियों का उत्पीड़न बन्द हो जायगा और धन का असमान विभाजन भी न होगा।"

"किन्तु उस समय काम के साधन अर्थात कारखाने कौन स्थापित करेगा और उनकी व्यवस्था कौन करेगा?"

यह सब अपने आप होने लगेगा; श्रमजीवी स्वयं सब व्यवस्था कर लेंगे।

"किन्तु पूंजीपति संगठन कायम ही इसलिए हुआ था कि हर किस्म के अमली काम के लिए सत्ताधारी संचालकों अथवा व्यवस्थापकों की आवश्यकता अनुभव की गई। यदि कारखाने होंगे तो सत्ताधारी संचालक और व्यवस्थापक भी रहेंगे। और जहां सत्ता होगी, वहां उसका दुरुपयोग भी होगा अर्थात् जिस बात को आप रोकना चाहते है, वह होकर रहेगी।"

इस प्रश्न का उत्तर नही दिया जा सकता कि राज्य सस्था के बिना हम कैसे रहेंगे, कारण यह प्रश्न ही गलत रूप मे पूछा जाता है। प्रश्न यह नहीं है कि हम वर्तमान राज्य संस्था के नमूने की या नये नमूने की, राज्य सत्ता की स्थापना कैसे करें। न तो मै और न हममें से और कोई व्यक्ति इस प्रश्न का निर्णय करने के लिए नियुक्त किये गए है। फिर भी हमको इस प्रश्न का उत्तर तो देना ही होगा कि नित्य प्रति हमारे सामने जो समस्या उपस्थित होती है, उसका हम किस प्रकार सामना करेंगे? जो काम हमारे चारों ओर होते रहते हैं क्या हम अपने अन्तःकरण के विरुद्ध उनको मान लें अथवा हम अपने अन्तःकरण के अनुसार आचरण करें और जो कार्य हमारी बुद्धि की कसौटी पर खरे न उतरे उनमें कोई हिस्सा न लें? इसका परिणाम क्या होगा: किस प्रकार की राज्य संस्था होगी, यह हम कुछ नहीं जानते। यह बात नहीं है कि हम जानना नहीं चाहते, बल्कि हम जान नहीं सकते। हम सिर्फ यह जानते हैं कि यदि हम विवेक और प्रेम अथवा विवेकपूर्ण प्रेम जो हमारे व्यक्तित्व में विद्यमान है, के श्रेष्ठतर पथ-प्रदर्शन पर चलेंगे तो कोई बुरा परिणाम नहीं निकलेगा, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि मधुमक्खिका अपनी अन्तः प्रवृत्ति के अनुसार अन्य मधुमक्षिकाओं के साथ समूह रूप में अपने छत्ते से, हम यों कह सकते हैं बर्बाद होने के लिए उड़कर चली जाती है और उसका कोई दुष्परिणाम नहीं निकलता। किन्तु हम फिर

यह कहेंगे कि हम न तो इस प्रश्न का निर्णय कर सकते हैं और न करना ही चाहते है।

महात्मा ईसा की शिक्षा की महत्ता इसी में है—यह बात नहीं कि ईसा परमात्मा अथवा महापुरुष थे, बल्कि बात यह है कि उनकी शिक्षाएँ ऐसी हैं, जिनका खंडन नही किया जा सकता। उनकी शिक्षा की विशेषता यह है कि उसमें समस्या को कल्पना के क्षेत्र से निकाल कर वास्तविकता के क्षेत्र में पहुँचा दिया गया है। "तू एक मनुष्य है विवेकवान और दयालु प्राणी है, और तू यह भी जानता है कि तेरे में ये गुण सर्व श्रेष्ठ है। इसके अलावा तू यह भी जानता है कि आज या कल तुझे मरना है, विलीन हो जाना है। यदि कही ईश्वर है तो तुझको उसके सामने जाना होगा और वह तुझसे तेरे कामो का हिसाब मागेगा। वह पूछेगा कि तूने ईश्वरीय नियम के अनुसार अथवा अपनी आत्मा के उच्च गुणों के अनुसार आचरण किया है अथवा नही ? यदि ईश्वर कहीं नहीं है तो तू विवेक और प्रेम को ही सर्वोच्च गुण समझ और अपनी अन्य सब मनोवृत्तियों को उनके आधीन कर दे, न कि उन गुणों को तेरे पशु स्वभाव के आधीन होने दे, जीवन-सामग्री की चिन्ता,कष्ट भय और भौतिक संकटों से उनको दूर रख !"

मे पुनः कहता हूँ कि प्रश्न यह नहीं है कि कौन सा समाज श्रेष्ठ होगा—हथियारो, तोपो और फांसी से सुरक्षित अथवा इन साधनों से रहित। किन्तु मनुष्य के सामने केवल एक ही प्रश्न है और उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। "क्या तू, जो एक विवेकवान और भला प्राणी है, जो थोड़े से समय के लिए इस संसार में आया है और किसी भी क्षण यहां से बिदा हो सकता है—भूल करने वाले आदमियों अथवा भिन्न जाति के मनुष्यों को मौत के घाट उतारने में सहायक होगा ? क्या तू जंगली कही जाने वाली जातियों के समूल विनाश में हिस्सा लेगा ? क्या तू पैसे के लिए शराब और अफ़ीम के द्वारा मनुष्यों की पीढ़ियों के अस्वाभाविक विनाश मे सहयोग देगा ? क्या तू ऐसे कार्यों

में भाग लेगा अथवा उन लागों के साथ सहमत होगा, जो इन कार्यों को होने देते हैं। बोल—तू क्या करेगा ?

जिन लोगों के सामने भी यह प्रश्न आ गया, उनका केवल एक ही उत्तर हो सकता है। इसका परिणाम क्या निकलेगा, मैं नहीं जानता, कारण मेरे पास यह जानने का साधन नहीं है। किन्तु मैं यह निश्चित रूप से जानता हूँ कि ऐसी स्थिति में करना क्या चाहिए।

यदि तुम पूछो—"होगा क्या ?" तो मैं उत्तर दूंगा कि परिणाम अच्छा ही निकलेगा, कारण विवेक और प्रेम के अनुसार आचरण कर मैं उस सर्वश्रेष्ठ नियम का अनुसरण कर रहा हूँ, जिसका कि मुझे पता है।

* * *

अधिकाश आदमी, जिनका हृदय सच्चे भ्रातृत्व के प्रकाश से प्रकाशित है, इस समय अपहरणकारियों की धूर्तता और पाखण्ड के शिकार बन रहे हैं। वे उनको अपना जीवन बर्बाद करने के लिए विवश कर रहे हैं। यह भयंकर स्थिति है और अत्यन्त निराशाजनक प्रतीत होती है। इन अधिकांश लोगों को दो ही मार्ग नज़र आते हैं। एक तो यह कि हिंसा का मुकाबला हिंसा से किया जाय, आतंकवाद, विस्फोटक बमों और पिस्तोलों का सहारा लिया जाय—जैसा कि निहिलिस्ट सम्प्रदाय के अनुयायियों और अराजकतावादियों ने लेने का प्रयत्न किया है। दूसरा यह कि सत्ता के साथ समझौता कर लिया जाय, उसमें भाग लिया जाय और इस प्रकार लोगों को धीरे-धीरे उस पाश से मुक्त किया जाय जिसमें उनको जकड़ दिया गया है। किन्तु यह दोनों ही रास्ते बन्द हैं।

जैसा कि अनुभव से सिद्ध हो चुका है बम और पिस्तौल प्रतिक्रिया ही पैदा करते हैं और हमारी सबसे बहुमूल्य शक्ति अर्थात् लोकमत की शक्ति नष्ट हो जाती है। दूसरा रास्ता इसलिए बन्द है कि राज्य संस्थायें यह अच्छी तरह जानती हैं कि सुधारकों को किस हद तक अपने कामों में दखल देने दें। अधिकारी सिर्फ उसी बात को स्वीकार करते हैं जो उनकी व्यवस्था को तोड़ने वाली नहीं होती, किन्तु यह महत्व की बात

नहीं। पर जो वस्तु उनके लिए हानिकर होती है, उसके प्रति वे बडे सशक होते है। वे उन व्यक्तियों को भी अपने साथ ले लेते है, जो उनके विचारों से सहमत नही होते और जो सुधार करना चाहते है। ऐसा वे केवल एसीलिए नही करते कि वे इन लोगों की मागे पूरी करना चाहते हैं, बल्कि अपने और अपने शासन तन्त्र के हित की दृष्टि से भी ऐसा करते हैं। ये लोग यदि शासन तत्र से अलग रहें और उसका विरोध करे तो उसके लिए बड़े खतरनाक सिद्ध हो सकते है। इसलिए अधिकारी इन लोगों को रियायतों द्वारा आकर्षित करके निरस्त्र बना डालते है और फिर अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए उनका उपयोग करते है अर्थात् उनसे जनता के शोषण और उत्पीड़न में सहायता लेते हैं। इस प्रकार जब ये दोनों ही मार्ग मजबूती के साथ बन्द कर दिये गये हैं और उनमे प्रवेश करना महाकठिन है तब हमारे सामने और कौन सा मार्ग शेष रह जाता है? हिंसा का उपयोग करना असम्भव है, उससे केवल प्रतिक्रिया का जन्म होगा। अधिकारियों का साथ देना भी संभव नही, क्योंकि उस दशा मे उनके हाथ की कठपुतली बन जाना पड़ता है। अतः एक मार्ग शेष रह जाता है और वह यह कि मन, वचन और कार्य से अन्याय का प्रतिकार किया जाय; अन्याय का साथ देकर उसकी शक्ति को न बढाया जाय। आवश्यकता है तो केवल इसी बात की और यह अवश्य सफल होगी। यही ईश्वर की आज्ञा है और यही महात्मा ईसा की शिक्षा है।

* * *

: ११ :

तीन उपाय

श्रमजीवियों की अवस्था सुधारने और मनुष्यों मे भ्रातृत्व स्थापित करने के तीन उपाय है।

(१) अपने लिए दूसरों से काम न कराना। प्रत्यक्ष अथवा

अप्रत्यक्ष रीति से भी उनसे काम करने को न कहना अर्थात ऐसी चीजों की यानी भोग विलास की चीजों की माग न करना, जिनके लिए कि अतिरिक्त परिश्रम करने की आवश्यकता पड़ती है।

(२) जो काम कठोर और अरुचिकर हो, उनको अपने लिए और यदि सम्भव हो तो दूसरों के लिए भी स्वयं करना।

(३) प्रकृति के नियमों का अध्ययन करना और ऐसे तरीकों का आविष्कार करना, जिन से परिश्रम की कठोरता कम हो—यथा यंत्र (मशीनरी), भाफ, बिजली आदि। यह वास्तव में एक साधन नही, बल्कि दूसरे उपाय का परिणाम और प्रयोग होना चाहिए। जब मनुष्य स्वयं अपने परिश्रम की कठोरता को कम करने के लिए, अथवा कम-से-कम ऐसे श्रम की कठोरता को कम करने के लिए, जिसका उसने स्वयं अनुभव किया हो, आविष्कार करेगा, तभी वह ऐसी चीजों का आविष्कार करेगा, जिसकी वास्तव मे आवश्यकता है। उस दशा में वह किसी अनावश्यक आविष्कार पर अपनी शक्ति व्यय न करेगा।

आज कल मनुष्य केवल तीसरे ही उपाय को काम में ला रहे हैं और वह भी ग़लत तौर पर, कारण वे दूसरे उपाय से दूर ही रहते हैं। वे पहले और दूसरे उपाय को आजमाने के लिए न केवल तैयार ही नहीं हैं, बल्कि उनके विषय में कुछ सुनना तक नही चाहते।

* * *

स्थायी क्रान्ति तो केवल एक ही हो सकती है और वह है नैतिक अर्थात् मनुष्य की आत्मा का पुनरुद्धार हो। यह क्रान्ति किस प्रकार हो? किसी को ज्ञात नही की मानव समाज मे यह क्रांति किस प्रकार होगी, किन्तु प्रत्येक मनुष्य इसको अपने भीतर स्पष्टतः अनुभव करता है। पर विचित्र बात तो यह है कि इस दुनिया में हरेक मानव समाज को बदलने के विषय में तो सोचता है, किन्तु खुद अपने को बदलने के बारे में कुछ नहीं सोचता।

लोगों ने गुलामी की प्रथा को मिटा दिया और अपने घरों में गुलाम रखना भी बन्द कर दिया, किन्तु अपना अमीराना रहन-सहन नहीं छोड़ा।

उन्हे अब भी दिन मे कई बार अपने कपड़े बदलने की आवश्यकता पड़ती है, एक के बजाय उन्हें अपने रहने के लिए दस दस कमरे चाहिए, उन्हें नित्य प्रति पांच पकवानों से भरे थाल चाहिए, मोटर और फिटन चाहिए आदि-आदि। और ये सब भोग-विलास की सामग्री कहां से आये यदि मनुष्य कारखानों मे गुलामो की भाति काम न करें? यह स्पष्ट सत्य है, किन्तु कोई इसको देखता नही।

नवयुग साहित्य सदन, इन्दौर के प्रकाशन

१	शिकायत नहीं	श्रीमती कृष्णा हठीसिंह	५॥)
२	नवजीवन (उपन्याम-कहानी)	श्रीरामचन्द्र तिवारी	३)
३	रहमान का बेटा ,,	,, विष्णु प्रभाकर	२॥)
४	अस्थि पिंजर ,,	,, यमुनादत्त वैष्णव	२॥)
५	यात्रा ,,	श्रीमती कमला चौधरी	२॥)
६	उन्माद ,,	,, ,, ,,	२)
७	पागल	खलील जिब्रान	१)
८	बटोही	,, ,,	१।=)
९	सन बयालीस का विद्रोह	श्री गोविन्द सहाय पा. सेक्रेटरी यू. पी.	६)
१०	साधना के पथ पर	,, हरिभाऊ उपाध्याय	३॥)
११	मनन	,, ,, ,,	१॥)
१२	रियासतों का सवाल	श्री बैजनाथ महोदय	२)
१३	नया रोजगार	,, गोपाल प्रसाद व्यास	३)
१४	यन्त्रों की मर्यादा	महात्मा गांधी	।-)
१५	कपड़ा उद्योग और मिलों का मुनाफा.	श्री खड़्भाई देसाई	।=)
१६	हमारी पुत्रियां कैसी हों ?	आ. चतुरसेन शास्त्री	२)
१७	नेताजी जियाउद्दीन के रूप में (हिन्दी)	श्री उत्तमचन्द मलहोत्रा	२)
१८	पशुओं का इलाज	श्री परमेश्वरी प्रसाद गुप्त	॥)
१९	चारादाना	,, ,, ,,	=)
२०	राष्ट्रीय गीत	(संकलन)	।)
२१	भारतीय मजदूर	प्रो. शंकरसहाय सक्सेना	३॥)
२२	स्वाधीनता की चुनौती (प्रेस में)	प्रो. शान्तिप्रसाद वर्मा	